दीवार का इस्तेमाल और अन्य लेख

इस पुस्तक में शामिल किए गए छोटे लेख अपने मूल रूप में अलग-अलग अखबारों और पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। इस तरह की संक्षिप्त टिप्पणियों में यह सुविधा रहती है कि शिक्षा के व्यापक और आम तौर पर निराश करने वाले परिदृश्य को कुछ बारीकी से, किसी एक प्रसंग में देखा और चित्रित किया जाए।

वास्तव में शिक्षा पर विचार करने के लिए समस्याओं की बहुत बड़ी परिधि या सूचना बनाना ज़रूरी नहीं होता, भले ही यह बात सच है कि शिक्षा की समस्याएँ सिर्फ शिक्षा की ही नहीं हैं, वे समाज और राज्य की संरचना और समस्याओं से भी जुड़ी हैं। मगर उन्हें इस वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए भी छोटे-छोटे प्रसंग ज़रूरी हैं, वरना हमारी समझ अमूर्त रहेगी और उसे सम्प्रेषित करना मुश्किल बना रहेगा।

एकलव्य
parag

ISBN: 978-81-89976-11-8

मूल्य: 60.00 रुपए

दीवार का इस्तेमाल

और अन्य लेख

कृष्ण कुमार

एकलव्य का प्रकाशन

दीवार का इस्तेमाल
दीवार का इस्तेमाल

और अन्य लेख
और अन्य लेख

कृष्ण कुमार

एकलव्य का प्रकाशन

दीवार का इस्तेमाल और अन्य लेख
Deewar Ka Istemal Aur Anya Lekh
कृष्ण कुमार
आवरण चित्र: रुस्तम सिंह

© कृष्ण कुमार

जनवरी 2008/2000 प्रतियाँ
80 gsm नेचुरल शेड एवं 220 gsm आर्टकार्ड (कवर) पर प्रकाशित
पराग इनिशिएटिव, सर रतन टाटा ट्रस्ट के वित्तीय सहयोग से विकसित
मूल्य: 60.00 रुपए
ISBN: 978-81-89976-11-8

प्रकाशक: **एकलव्य**
ई-10, बी.डी.ए. कॉलोनी, शंकर नगर
शिवाजी नगर, भोपाल - 462016, म.प्र.
फोन: (0755) 267 1017, 255 0976
फैक्स: (0755) 255 1108
सम्पादकीय: books@eklavya.in
किताबें मँगवाने के लिए: pitara@eklavya.in

मुद्रक: राजकमल प्रिंटर्स, भोपाल, फोन: (0755) 268 7589

विषय सूची

आमुख v
दीवार का इस्तेमाल 1
कक्षा में भीड़ 3
सांस्कृतिक कार्यक्रम 6
गेंद की तलाश 8
जयन्त पाण्डुरंग नाइक और भारतीय शिक्षा 11
किताब पढ़ने की आदत 15
कहानी कहाँ खो गई? 18
फिर... 22
धर्मनिरपेक्ष राज्य की जड़ें 25
निरक्षरता बनाए रखने की राजनीति 29
शिक्षा में हस्तेक्षप ज़रूरी है 33
लक्ष्मीशंकर आजकल कहाँ हैं? 37
सरस्वती जहाँ पाठ्य पुस्तकों में कैद है 41
रवीन्द्रनाथ टैगोर और आज की शिक्षा 46
अध्यापक सीख दें, या सिखाएँ? 51
अशोक की कहानी 55
उदास लड़कों का राज 59

साक्षरता की जड़ों में पानी या मट्ठा? 62
धानम की आँख से उठा सवाल 65
पहाड़ी धीरज की घुटन 67
शिक्षा का खण्डित व्यक्तित्व 71
बालमन में हिन्दी के प्रति अपनापन रहे कैसे? 75
आज़ाद बच्चे फिर जन्म लेंगे 80
निरीह तानाशाहः भारत का अध्यापक 86
समृद्ध युवाओं की सभ्यता 92
बच्चे को तोड़ने का कमाल 97
निरक्षरों पर महाभियोग 100

आमुख

आमुख

इस संग्रह में शामिल किए गए छोटे लेख पिछले दो-ढाई दशकों के दौरान अलग-अलग जगहों पर प्रकाशित हुए थे। इस तरह की संक्षिप्त टिप्पणियों में यह सुविधा रहती है कि शिक्षा के व्यापक और आम तौर पर निराश करने वाले परिदृश्य को कुछ बारीकी से, किसी एक प्रसंग में देखा और चित्रित किया जाए। इस तरह का लेखन इस कारण से भी मुझे विशेष प्रिय रहा है कि टिप्पणी लिखने की ज़रूरत के बहाने स्कूलों और शिक्षा से जुड़े अन्य स्थानों को वहाँ जाकर देखने और लौटकर उनके बारे में कुछ कहने का उत्साह बना रहता है। जिन पत्रिकाओं और अखबारों में ये टिप्पणियाँ मूल रूप में प्रकाशित हुईं उनके सम्पादकों को भी शायद इन्हें पढ़कर कुछ राहत मिली होगी, क्योंकि शिक्षा पर बोलकर या लिखकर की जाने वाली चर्चाएँ प्रायः बहुत लम्बी होती हैं और उन्हें सुनने या पढ़ने वाले इन चर्चाओं में स्वयं कहीं प्रवेश नहीं कर पाते। मुझे आशा है कि ऐसी ही राहत इस पुस्तक को पढ़ने वाले शिक्षक, माता-पिता और अन्य पाठक महसूस करेंगे।

कोई कारण नहीं कि बच्चों की शिक्षा पर हम बारीकी से और छोटे सन्दर्भों में विचार न कर सकें, भले ही स्कूलों और इम्तिहानों का देश भर में फैला हुआ संसार हमें कितना ही उदास और परेशान करता हो। मेरी यह मान्यता बहुत समय से रही है कि शिक्षा पर विचार करने के लिए समस्याओं की बहुत बड़ी परिधि या सूची बनाना उपयोगी नहीं होता, भले ही यह बात अपनी जगह सच है कि शिक्षा की समस्याएँ सिर्फ शिक्षा की नहीं हैं, वे समाज और राज्य की संरचना और समस्याओं से भी जुड़ी हैं। मगर उन्हें इस वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए भी छोटे-छोटे प्रसंग ज़रूरी हैं, वरना हमारी समझ अमूर्त रहेगी और उसे सम्प्रेषित करना बहुत मुश्किल बना रहेगा। शिक्षा की जानी-पहचानी समस्याएँ स्कूल की ज़िन्दगी के

रोज़ाना के सन्दर्भों में कभी प्रकट होती हैं तो कभी छिप जाती हैं और अक्सर जब चर्चा का समय आता है तो वे कठिन शब्दों और लम्बे भाषणों में छिपी ही रह जाती हैं।

जो व्यक्ति इन समस्याओं को अच्छी तरह जानता है और उनका भार रोज़ झेलता है, वह – यानी शिक्षक – इतना कम लिखता है या बोलता है कि उसकी दृष्टि से स्कूल का संसार और उसके इर्द-गिर्द फैला समाज और सरकार का संसार कभी ठीक से खुल ही नहीं पाता। यह एक ऐतिहासिक लाचारी है या सिर्फ एक तथ्य कि हमारा शिक्षक लिखता नहीं है। मुझे आशा है कि वह लिखे न सही, पर कम से कम पढ़ेगा अवश्य। यदि यह पुस्तक शिक्षकों के हाथ पहुँची और पढ़ी गई तो मुझे गहरा सन्तोष होगा।

– कृष्ण कुमार

दीवार का इस्तेमाल

दीवार का इस्तेमाल

बगैर दीवारों के चलने वाले स्कूलों की बात छोड़ दी जाए तो यह कहे जाने में शायद ही किसी को आपत्ति हो कि एक औसत स्कूल दीवार का इस्तेमाल बाहरी दुनिया से रक्षा और इस दुनिया से भिन्न एक विशेष किस्म का वातावरण बनाने के लिए करता है। बाहरी दुनिया से रक्षा में धूप, बारिश और ठण्ड से रक्षा शामिल है और इस अर्थ में बच्चों की रक्षा किए जाने में कोई शंका नहीं हो सकती। शंका तब होती है जब हम पाते हैं कि दीवारों के सहारे स्कूल बाहर की दुनिया के सामाजिक यथार्थ से बच्चों को अलग रख रहा है। स्कूली व्यवस्था की दृष्टि में यह भी बच्चों की रक्षा ही है। यह एक पुरानी मान्यता है कि बच्चों का व्यक्तित्व यथार्थ की आँच नहीं सह सकता। इस मान्यता की आड़ में यह मान लिया जाता है कि स्कूल को सामाजिक यथार्थ से बच्चों की रक्षा करने का हक है। इसी हक में यह कर्त्तव्य भी शामिल माना जाता है कि स्कूल अपनी दीवारों के भीतर एक विशेष किस्म का वातावरण पैदा करे।

कुछ दिन पहले भारत में यात्रा करते हुए मेरा ध्यान एक स्कूल में दीवारों पर लिखे उपदेशों की ओर गया। इस स्कूल में समय का प्रयोग बहुत अनाप-शनाप ढंग से होता है, पर दीवार पर लिखा था: "समय ही अनुशासन है।" संस्था में आपसी कलह और व्यवस्था सम्बन्धी दिक्कतों के कारण हर किसी का पारा लगभग हर वक्त चढ़ा रहता है, पर प्राचार्य के कमरे के बाहर लिखा था: "क्रोध को जीतो।" इसी तरह अन्य कई उपदेश वाक्य थे जो स्कूल के यथार्थ के ठीक विपरीत थे। इन वाक्यों से बच्चों के गिर्द एक विशेष किस्म का नैतिक वातावरण बुनने की कोशिश की गई थी। जैसी नैतिकता यह वातावरण सिखा रहा था, उसका कोई आधार स्कूल के भीतर या बाहर न था। इस कारण दीवारों पर अंकित वाक्यों की व्यंजना अत्यन्त कमज़ोर जान पड़ रही थी। उन्हें रोज़ देखते-

देखते बच्चों में शायद यह मानने की आदत पड़ रही थी कि भाषा का इस्तेमाल बगैर किसी अर्थ के हो सकता है। इस दृष्टि से सोचें तो हम यह कह सकते हैं कि स्कूल में भाषा के पाठ्यक्रम में दीवारें बहुत ऋणात्मक भूमिका निभा रही थीं। भाषा के सरकारी पाठ्यक्रम की चेष्टा यह थी कि बच्चे सार्थक भाषा का प्रयोग सीखें। दीवारें यह दिखा रही थीं कि स्कूल स्वयं भाषा का कितना निरर्थक प्रयोग करता है।

पश्चिमी देशों में स्कूल की दीवार का इस्तेमाल बच्चों को उनके कृतित्व के निकट रखने के लिए किया जाता है। कक्षा के दौरान बच्चे जो चित्र बनाते हैं, या जो लेख, कहानी, पत्र या कविता लिखते हैं, उसे तुरन्त दीवार पर टाँग या चिपका दिया जाता है। कक्षा की चारों दीवारें इस तरह की सामग्री से भरी होती हैं। जब कोई बच्चा एक नई चीज़ बनाता है, तब पुरानी कृति हटा दी जाती है। बच्चा जब अपनी कृति दीवार पर देखता है तो एक तरह से स्कूल में अपने अस्तित्व का कुछ अतिरिक्त और मज़बूत आभास पाता है जो उसे रजिस्टर पर अंकित संख्या नहीं दे पाती। चूँकि हर बच्चे की बनाई हुई सामग्री दीवार पर होती है, इसलिए प्रतियोगिता का प्रश्न ही नहीं उठता। पश्चिम में व्यक्ति को भारी महत्व दिया जाता है और इस स्कूली प्रथा में बच्चे का व्यक्तिगत महत्व ही सर्वोपरि प्रयोजन है जो मेरी राय में एक उम्दा उद्देश्य है।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि पश्चिमी स्कूल भारतीय स्कूल के मुकाबले सामाजिक यथार्थ से ज़्यादा जुड़ा है। वस्तुस्थिति यह है कि दोनों का समाज से अलगाव भिन्न तरीकों से छिपाया जाता है। भारतीय स्कूल अपनी दीवारों को उपदेशों से रंग एक झूठी नैतिकता बच्चों को पढ़ाता है। पश्चिमी स्कूल बच्चों की कृतियाँ दीवार पर टाँगकर उनके समाजीकरण की तरफ से आँखें मूँद लेता है। महत्व दरअसल इस बात का है कि दीवारों के भीतर घिरे बच्चों को स्कूल क्या देता है। दीवारों पर क्या हो रहा है, इसका महत्व एक सीमा तक ही है। ज़्यादा महत्व इसका है कि दीवारों के भीतर क्या हो रहा है।

कक्षा में भीड़

कक्षा में भीड़

पिछले दिनों एक स्कूल की नवीं कक्षा में गया। लगभग अठारह फुट लम्बे और बारह फुट चौड़े कमरे में, जिसमें एक तरफ दो दरवाज़े और दूसरी तरफ तीन खिड़कियाँ थीं, कोई पचास लड़कियाँ पढ़ती हैं। कमरे के एक कोने में लकड़ी का बोर्ड है, अध्यापिका के लिए एक मेज़ और कुर्सी, लड़कियों की पहली तीन पंक्तियों के लिए टाट-पट्टी और डेस्क, तथा बाकी लड़कियों के लिए सिर्फ टाट-पट्टी की व्यवस्था है। अध्यापिका की मेज़-कुर्सी कक्षा के एक सिरे पर है, इसलिए वे लड़कियों की पहली पंक्ति के बिल्कुल करीब और पिछली पंक्ति से बहुत दूर हैं।

अध्यापिका ने मुझे बताया कि वे सप्ताह में लगभग 32 घण्टियाँ पढ़ाती हैं और इस तरह की पाँच कक्षाओं में जाती हैं। इस प्रकार लगभग 250 लड़कियाँ उनके सम्पर्क में आती हैं या एक विषय के लिए उनके ज़िम्मे हैं। उन्होंने मुझसे पूछा कि उनकी परिस्थिति में कौन-सी नई तकनीकें इस्तेमाल की जा सकती हैं। मैं उनका उत्साह देखकर दंग रह गया। उनके साथ बातचीत में कई बार मेरे मुँह से निकला कि उनकी परिस्थिति बहुत कठिन और उनकी समस्याएँ बड़ी भारी हैं क्योंकि एक कक्षा में 50 बच्चों या कुल मिलाकर 250 बच्चों की देखरेख करना लगभग असम्भव काम है। बातचीत के दौरान मुझे लगा कि मेरी भूमिका सिर्फ एक हमदर्द की ही हो सकती है क्योंकि असली परिवर्तन तो प्रशासक या अध्यापक संगठन ही करेंगे। अध्यापिका ने मुझसे पूछा, "जब तक परिवर्तन नहीं होता तब तक क्या करूँ?"

उनका यह सवाल मेरी समझ में राष्ट्रीय महत्व का है। भारत में आप जहाँ जाइए, आप पाएँगे कि लोग किसी व्यापक परिवर्तन, किसी नए प्रबन्ध की तीव्र प्रतीक्षा कर रहे हैं और प्रतीक्षा के दौरान कोई खास काम नहीं कर

पा रहे, न ही स्वयं स्फूर्तिशील व स्वस्थ रह पा रहे हैं क्योंकि परिस्थितियाँ इतनी खराब हैं कि न तो कोई काम किया जा सकता है, न स्वस्थ रहा जा सकता है। 250 बच्चों की देखरेख करना ऐसी ही एक बहुत विकट परिस्थिति है।

अध्यापिका की परिस्थिति तो खराब है ही, उनके स्कूल की लड़कियों की परिस्थिति और भी खराब है। अध्यापिकाएँ वयस्क हैं, अपना आधा जीवन जी चुकी हैं। लड़कियाँ अपना जीवन शुरू कर रही हैं। कक्षा और स्कूल का एक-एक अनुभव उनके सामाजिक और राजनीतिक संस्कार रच रहा है। नवीं कक्षा में वे पहली तीन पंक्तियों में डेस्क के साथ और अध्यापिका के पास बैठी हैं या पिछली पंक्तियों में टाट-पट्टी पर कमर झुकाए भीड़ का एक हिस्सा बनी बैठी हैं। ऐसी प्रत्येक स्थिति उनके संस्कारों का हिस्सा बन रही है और उनकी आत्मछवि को ढाल रही है।

इस स्कूल के किसी भी कमरे में अध्यापक की मेज़ के लिए 4x3 फुट जगह देना अनुचित है। अध्यापिका का कक्षा के एक सिरे पर खड़ा होना भी अनुचित है। स्कूल में जितनी भी जगह है और जितनी अध्यापिकाएँ हैं, उनका जनतांत्रिक रीति से उपयोग होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि स्कूल की प्रत्येक छात्रा की अध्यापिका के ध्यान में हिस्सेदारी बराबर होनी चाहिए। यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक कक्षा के पारम्परिक विन्यास को तिलांजलि दे दी जाए। कक्षा के एक कोने में खड़ी न होकर अध्यापिका यदि कक्षा के बीच में बैठें और छात्राओं को अपने गिर्द एक वृत्त में बिठाएँ तो वे अपनी पहुँच को अपेक्षाकृत अधिक समतापूर्वक बाँट सकेंगी। डेस्क नवीं कक्षा से निकालने ही होंगे। उनका उपयोग तभी है जब वे सबके लिए उपलब्ध हों।

नए विन्यास से नवीं कक्षा में क्रांति नहीं हो जाएगी। पर इस विन्यास की अपनी माँगें हैं जो कक्षा में शामिल लोगों की भावनाओं और भावनाओं पर आधारित दृष्टिकोणों को प्रभावित करेंगी। इस विन्यास की आधारभूत माँग होगी: जो भी हमारे पास है उसका पूरा उपयोग सब लोगों में बराबर बाँटकर करें। यह माँग अध्यापिकाओं और छात्राओं के व्यवहार को प्रभावित करेगी। अध्यापिका और छात्रा के बीच की दूरी कम होगी और यदि ऐसा हुआ तो सम्भव है कि अध्यापिका भाषण के स्थान पर संवाद पर आधारित तकनीकें स्वयं खोज सकें। कक्षा के एक कोने में खड़े होकर सिर्फ भाषण दिया जा सकता है और दूसरे कोने में बैठकर सिर्फ सुना जा

सकता है। संवाद तभी सम्भव है जब अध्यापिका और छात्रा वक्ता और श्रोता का अभिनय न कर रही हों।

यदि इस कक्षा में कभी नाटकीय पद्धति से कोई विषय पढ़ने का समय आया तो नया विन्यास बहुत मददगार साबित होगा। नाटक की मूल अवधारणा है संवाद और उसकी शक्ति है कल्पना। बच्चों के जीवन से नाटक का सीधा-सीधा सम्बन्ध है। उनमें नैसर्गिक नाटकीय प्रतिभा होती है। स्कूल की सामन्ती या अफसरी सभ्यता (मौजूदा व्यवस्था में अध्यापक कक्षा के सामन्त की तरह का व्यवहार ही तो करता है?) बच्चों को एक तरफ पंक्तियों में बिठाकर और अध्यापक को दूसरी तरफ खड़ा करके नाटक की शिक्षायी सम्भावनाओं का इस्तेमाल नहीं कर सकती। नाटकीय परिस्थिति में अध्यापक शिक्षा का दाता और बच्चे शिक्षा के ग्राहक नहीं रह जाते। दोनों एक जीवन्त प्रक्रिया के हिस्सेदार बन जाते हैं। इसी कारण नाटक का कक्षा में इस्तेमाल अध्यापक और बच्चों के बीच की दूरी कम करता है।

किन्तु नाटक का इस्तेमाल यहाँ एक उदाहरण भर है और जिस विन्यास की चर्चा मैंने की है, वह भी उदाहरणस्वरूप ही है। असली प्रश्न यह है कि यदि हम बच्चों की बहुत अधिक संख्या वाले सरकारी स्कूल में पढ़ाते हैं तो अपनी कक्षा के बच्चों को भीड़ बनने से कैसे रोकें? इस प्रश्न का सबसे वाजिब उत्तर यह प्रश्न हो सकता है कि बहुत अधिक संख्या में बच्चों को अपने सामने पाकर हम स्वयं नेता बनने से कैसे बचें? जब अध्यापक नेतृत्व करने लगता है तो बच्चे भीड़ बन जाते हैं।

सांस्कृतिक कार्यक्रम

सांस्कृतिक कार्यक्रम

देश के बहुत कम स्कूलों में कला के लिए जगह और समय है, और जिन स्कूलों में है वो प्रायः सांस्कृतिक कार्यक्रम के बहाने है। स्कूली संस्कृति के और विधानों की तरह कला के इस्तेमाल के इस विधान में भी सामन्ती कार्यक्रम में मुख्य अतिथि के नाम पर स्थानीय नौकरशाही के किसी सदस्य, जैसे ज़िलाधीश या पुलिस अधीक्षक अथवा राजनीतिक गरिमा से मण्डित किसी उच्चवर्गीय, प्रायः सामन्ती, व्यक्ति को बुला लिया जाता है। पूरा कार्यक्रम एक तरह से इस व्यक्ति की वन्दना के तौर पर सम्पन्न होता है। जब वह आता है तभी कार्यक्रम शुरू किया जाता है, और जब उसे उठना होता है तो कार्यक्रम बीच में रोककर उसका भाषण करवा दिया जाता है। यदि यह व्यक्ति मंत्री या अधिकारी हुआ तो स्कूल का प्राचार्य यह उम्मीद करता है कि कार्यक्रम का मुख्य अतिथि होने के नाते वह व्यक्ति स्कूल की कोई पुरानी ज़रूरत या माँग पूरी करेगा, मानो यह कहते हुए – "शाबाश, तुमने अच्छा नाच-गाना दिखाया। ये लो दो हज़ार रुपए, इससे स्कूल का फाटक बनवा लो।"

यह "शाबाशी" पाने के लिए ही पूरे कार्यक्रम की संरचना की जाती है। शाबाशी देने वाला कितना ही भ्रष्ट या मक्कार या अज्ञानी क्यों न हो, उससे मिली प्रशंसा प्राचार्य और शिक्षकों का मन भरती है। वह भूख जो सामन्ती व्यवस्था अपने नौकर-चाकरों में पैदा करती है, एक सामन्त या सामन्ती शैली में पले प्रजातंत्री मंत्री या अधिकारी के साधुवाद से शमित होती है। ऐसे अध्यापक हैं जिनमें यह भूख नहीं है, पर वे कम हैं। दरअसल यह भूख उस असुरक्षा से पैदा होती है जिसमें हमारी शिक्षायी नौकरशाही अध्यापकों को रखती है।

जिस ढंग से सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं, वह ढंग बच्चों में भी यही भूख पैदा करता है। वे इनामों, पदकों, प्रमाण पत्रों और तारीफ

के शब्दों के मोहताज बन जाते हैं। उनकी कलात्मक वृत्तियाँ चापलूसी और प्रतियोगिता के कीचड़ में धँस जाती हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रम उनके लिए अभिव्यक्ति का अवसर नहीं रह जाता, अपनी दक्षता दिखाकर वाहवाही प्राप्त करने का साधन बन जाता है। वे जानते हैं कि घिसे-पिटे, अन्य स्कूलों से चुराए गए, कई बार इनाम पा चुके कार्यक्रम प्रदर्शित करने से ही उन्हें प्रशंसा मिलेगी। इस वातावरण में मौलिकता और सृजनशीलता की गुंजाइश कहाँ?

सांस्कृतिक कार्यक्रम के आयोजन में किया गया खर्च स्कूली जीवन की एक अपव्ययी रस्म बन गया है। यह खर्च एक शाम को रंगीन बना देता है, पर स्कूल में रंगमंच के स्थायी विकास में कोई सहयोग नहीं देता। स्कूल में रंगमंच से आशय कोई लम्बा-चौड़ा तामझाम खड़ा करने से नहीं है, बल्कि एक साधारण स्कूल की परिस्थिति में रंगमंचीय वृत्तियों के लिए जगह बनाने से है। इस विषय पर सैद्धान्तिक और आदर्शवादी लेखन की भारत में कमी नहीं है। कई शिक्षाविद् और शिक्षारागी राजनेता यह कई बार कह चुके हैं कि रंगमंच का शिक्षा में विशेष स्थान है। कहने लायक बात अब यह बची है कि रंगमंच का शिक्षा में विशेष नहीं सामान्य स्थान होना चाहिए। यह सामान्य स्थान कक्षा के रोज़मर्रा के कार्यक्रम में बनाया जा सकता है। भाषा की पढ़ाई के लिए इस्तेमाल की जाने वाली सामग्री को नाटकीकृत रूप में अनौपचारिक अभ्यास के लिए प्रयोग किया जा सकता है। इस तरह के अभ्यास से वे वृत्तियाँ जीवित और विकसित हो सकती हैं जिन्हें व्यापक अर्थ में रंगचेतना कहा जा सके।

पर इस मौजूदा स्कूली संस्कृति में रंगचेतना का कौन-सा प्रयोजन निर्धारित किया जा सकता है? हमारी स्कूली संस्कृति परीक्षा पर टिकी है। प्रतियोगिता और प्रशंसा के ध्रुवों के बाहर कोई चीज़ इस संस्कृति में नहीं टिक पाती। जिस रंगचेतना की बात मैं यहाँ उठा रहा हूँ, वह इस दायरे को तोड़कर ही जीवित रह सकती है। इस प्रयास में पहल अध्यापकों को प्रशिक्षित करने वाली संस्थाएँ कर सकती हैं और स्वयं अध्यापक भी। जो अध्यापक ऐसी पहल करेंगे उन्हें यह मानकर चलना होगा कि वे सांस्कृतिक कार्यक्रम की तैयारी नहीं कर रहे। वे महसूस करेंगे कि वे इससे ज़्यादा बड़ा काम कर रहे हैं। यह बड़ा काम है परीक्षा और पाठ्य पुस्तक का आधिपत्य नकारना।

गेंद की तलाश

गेंद की तलाश

नई दिल्ली में जिस समय एशियाई खेल हो रहे थे, उसी समय "प्रगति मैदान" में, जिसे सीधी भाषा के ज़माने में "एक्ज़ीबीशन ग्राउण्ड्स" या "प्रदर्शनी मैदान" कहा जाता था, खेल-खिलौनों की नुमाइश लगी। इसके ठीक पहले वहाँ व्यापार मेले की धूम थी। मेले में हर प्रान्त का अलग मण्डप था। पारम्परिक हस्तकला से लेकर आधुनिक मशीनों तक हर चीज़ इन मण्डपों में थी, पर खेल उद्योग के उत्पादन दुर्लभ थे।

खेल-खिलौनों की प्रदर्शनी प्रगति मैदान के एक कोने में – कुल एक भवन में, बल्कि उसके भी कुल एक हिस्से में – सिमटी थी। प्रदर्शनी वाले कोने में घुसने के लिए उत्पादकता और नवाचार (नए उत्पादनों) पर ज़ोर देने के लिए लगाई गई एक और प्रदर्शनी से होकर गुज़रना ज़रूरी था। इस व्यवस्था का कारण स्पष्ट था। उत्पादकता वाली प्रदर्शनी यदि किसी अन्य प्रदर्शनी के रास्ते में न रखी जाती, तो उसे देखने शायद ही कोई जाएगा – यह सन्देह आयोजकों के मन में रहा होगा। जहाँ तक नवाचार का प्रश्न है, उत्पादकता की नुमाइश के आयोजकों ने खेल-खिलौनों की नुमाइश तभी देख ली होगी जब वह सजाई जा रही होगी; और तभी उन्हें यह सन्देह हो गया होगा कि इस नुमाइश को देखने आने वाला दर्शक नवाचार के सन्देश से वंचित रह जाएगा।

बावजूद इस इन्तज़ाम के मैं खेल प्रदर्शनी में यह कल्पना मन में संजोकर गया कि वहाँ कुछ नई किस्म का खेल का सामान और पारम्परिक कुटीर खेल-खिलौनों में हुए सुधार देख सकूँगा। प्रदर्शनी में घुसने के बाद काफी देर तक लगता रहा कि यह खेल-खिलौनों की नहीं, जालन्धर के व्यापारियों की प्रदर्शनी है। एक के बाद एक दुकान में जालन्धर में बना हॉकी, फुटबाल और क्रिकेट जैसे खेलों का सामान रखा था। दीवार पर टँगे

छायाचित्रों में इस सामान के बनाने की प्रक्रिया दिखाई गई थी। एक जगह क्रिकेट की गेंद के अवयव अलग-अलग पड़े थे, जिन्हें लोग छू-छूकर देख रहे थे। पता नहीं सामान के छुए जाने पर मनाही नहीं थी या बन्दोबस्त की कमी थी। ज़ाहिर है, जो लोग यह सोच कर आए होंगे कि अन्य प्रदर्शनियों की तरह यहाँ भी कुटीर रेशम की साड़ी पहने एक कन्या उन्हें सामान छूने से मना करेगी, वे निराश हुए होंगे।

पिछले कई हफ्तों से मैं दस वर्ष के एक बालक को देने के लिए एक अच्छी गेंद ढूँढ रहा हूँ। नई दिल्ली की कई दुकानों और सुपर बाज़ार का चक्कर लगा आया, पर एक सीधी-सादी, खूब उछलने वाली और मज़बूत रबड़ की गेंद नहीं मिली। एक गेंद आजकल ऐसी चली है जिसमें हवा नहीं है। गेंद क्या है, रबड़ का गोल लोंदा है। इस गेंद में सुई चुभने से कोई नुकसान नहीं होगा, पर दो-चार बार ज़ोर से कहीं फेंकी, तो गेंद के दो टुकड़े हो जाएँगे। ज़्यादा उछलने में इस गेंद की दिलचस्पी नहीं। एक और गेंद, जो बाज़ार में उपलब्ध है, कड़े प्लास्टिक की है। ठोस रबड़ की गेंद के मुकाबले यह गेंद कहीं ज़्यादा कमज़ोर है। उछले भी कैसे? अन्दर हवा का दबाव तो है नहीं। प्लास्टिक के खोल में हवा भरी नहीं गई है, अकारण या लाचारीपूर्वक छोड़ दी गई है। देखने में यह गेंद हॉकी की गेंद सरीखी लगती है, पर यदि सचमुच इस पर हॉकी से "हिट" लगाई जाए, तो कँचे से दो-चार हाथ ही ज़्यादा दूर जाएगी।

देश की औद्योगिक प्रगति को देखते हुए यह बात मुझे पच नहीं रही है कि गेंद की टेक्नॉलॉजी में विकास तो दूर रहा, अवनति हुई है। खेल-खिलौनों की प्रदर्शनी में अन्तिम दुकान में घुसने तक यह आशा मैं मन में बनाए रहा कि मेरी शंका दूर होगी और एक अच्छी गेंद लेकर मैं इस प्रदर्शनी से निकलूँगा। जालन्धर के उत्पादकों के पास गेंद के नाम पर फुटबॉल का लघु संस्करण ही था। आकर्षक रंगों के चमड़े के टुकड़ों को सिलकर बनाई गई ये मज़बूत गेंदें उन बच्चों के लिए थीं जिनके घर हवा भरने को एक नौकर है। सात-आठ वर्ष का बच्चा इस गेंद के ब्लैडर में हवा नहीं घुसा सकता। गेंद के साथ पम्प खरीदना भी ज़रूरी है। इस महँगी गेंद को छूते ही मन में चमड़े के मज़बूत, महँगे जूतों की कल्पना दौड़ जाती है। जिस लड़के के लिए मैं गेंद ढूँढ रहा हूँ, वह जूते नहीं खरीद सकता।

पर एक गेंद ही इस प्रदर्शनी की विफलता न थी। खिलौनों के नाम पर सिर्फ प्लास्टिक की अनुकृतियाँ थीं – जीवन की अनुकृतियाँ नहीं, पश्चिमी

खिलौनों और चेहरों की। लिओ कम्पनी ने प्लास्टिक की मशीनगनें बनाई हैं। वे भी इस प्रदर्शनी में थीं और बिक रही थीं। लकड़ी का सामान मुश्किल से ही दिखाई देता था। ऐसा बहुत-सा सामान खेलने के लिए नहीं, ड्रॉइंग रूम में सजाने के लिए था। इस सामान को देखकर मुझे ध्यान आया कि यह प्रदर्शनी खेल-खिलौनों के साथ-साथ उपहार प्रदर्शनी भी है। आयोजकों का एक सन्देश, जो प्रदर्शनी से निकलकर समझ में आया, यह था कि आज की मध्यमवर्गीय संस्कृति में खेल के सामान और खिलौनों की उपयोगिता उपहार के रूप में है। सजे-धजे घर में उपहार का प्रयोग सजावट के लिए होता है। वैसे भी ऐसे घर ज़्यादा नहीं मिलते जिनके भीतर खेलने की इजाज़त हो। हाँ, मशीनगन लेकर बच्चा "ठांय-ठांय" चिल्लाए तो अवश्य नए माता-पिता कह देते हैं, "खेलने दो," और मेहमानों को बताते हैं, "सारा दिन अपने आप ही खेलता रहता है।"

जयन्त पाण्डुरंग नाइक और भारतीय शिक्षा

जयन्त पाण्डुरंग नाइक और भारतीय शिक्षा

30 अगस्त को जे. पी. नाइक के निधन से चार दिन पूर्व मेरी मुलाकात एक सेवानिवृत्त आई.ए.एस. अधिकारी से हुई। जैसे ही उसे मालूम हुआ कि मैं जे. पी. नाइक के साथ काम कर रहा हूँ, वह एकदम आक्रामक हो उठा और बोला, "यह आदमी भारत सरकार का शिक्षा सलाहकार था। तीस साल तक वह भारतीय शिक्षा में सबसे ऊँची जगह पर रहा। आज शिक्षा का जो हाल देश में है, सब उसकी वजह से है।" मैं चुप रहा क्योंकि मैं जानता हूँ कि एक आई.ए.एस. अधिकारी से संवाद करना कितना कठिन होता है। जे. पी. नाइक अस्पताल में कैंसर से जूझते हुए मृत्यु के करीब पहुँच चुके थे। यदि वे उपस्थित होते तो इस अधिकारी को बताते कि उनके हाथ में कोई ताकत नहीं थी। शायद वे यह न बताते कि कितने सारे लोगों ने कितने लम्बे समय तक कितनी सफाई से उनके विचारों की चापलूसी और अनसुनी की, कितने देशभक्त और शिक्षाप्रेमी कहे जाने वाले लोगों ने उनकी ईमानदारी और मौलिकता का इस्तेमाल किया, और अब अपने मेहनती जीवन के छोर पर पहुँचकर वे कितना दर्द, कितना क्रोध, और कितनी निराशा महसूस कर रहे थे।

इन बीस-पचीस वर्षों के दौरान देश में समाज वैज्ञानिक विषयों पर शायद ही कोई ग्रन्थ या परचा लिखा गया होगा जिसकी एक प्रति लेखक या सम्पादक ने जे. पी. नाइक के पास न भेजी हो। अर्थ, राजनीति, इतिहास, समाजशास्त्र, संस्कृति, मनोविज्ञान और शिक्षा में छोटा-बड़ा हर तरह का शोध या लेखन कर रहा व्यक्ति उन्हें अपना एक सुनिश्चित पाठक और सहृदय समीक्षक मानता था। उन्होंने भारतीय समाज विज्ञान अनुसंधान परिषद की स्थापना और संरचना गढ़ने में एक खास भूमिका निभाई थी। इस परिषद ने समाज वैज्ञानिक शोध और संवाद का जो विस्तृत ताना-

बाना रचा, जे. पी. नाइक उसके केन्द्र में पद या प्रभुत्व के कारण नहीं, अपनी विविध रुचियों और सहृदयता के कारण रहे। उनके व्यक्तित्व का शायद सबसे महत्वपूर्ण पहलू उनकी पढ़ने की क्षमता थी। वे शिक्षाविद्, योजनाकार और सलाहकार बाद में थे, एक कुशल, जिज्ञासु और अथक पाठक पहले थे।

यह एक संयोग ही था कि मुझे पिछले छः महीने उनके साथ काम करते हुए बिताने का अवसर मिला। मेरे और उनके बीच उम्र और अनुभव का फासला था। पर उनका स्नेह इस फासले को एक-दो दिन में पाट गया। अभी-अभी परिचय में आए आदमी को अपना विश्वास और ज़िम्मेदारी देने की उनमें जैसी सामर्थ्य थी, वह मुझे एक काल्पनिक बात लगती यदि मैं स्वयं उसका पात्र न बना होता। कई अन्य मायनों में उनका सम्पर्क मेरे लिए एक नया, अविश्वसनीय अनुभव था। विचारों में जीने वाले और सिद्धान्तों के पक्के आदमियों का सम्पर्क आज़ादी के बाद जनमी मेरी पीढ़ी के सदस्यों के लिए दुर्लभ था। आदर्शवादिता का जो ज्वार स्वाधीनता के पहले आया होगा, हम लोगों ने सिर्फ उसका उतरना देखा। विद्या, प्रशासन, नेतृत्व – सभी दायरों में हमें खोखले और प्रमादी लोग उन्नति करते मिले। ईमानदार आदमियों से मिलना एक विशेष घटना बन गया। ऐसी पृष्ठभूमि लेकर जे. पी. नाइक के सम्पर्क में आना एक बहुत बड़ी, अवास्तविक दिखने वाली घटना लगे तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं। अपने सहकर्मियों की सुख-सुविधा के लिए चिन्तित रहने वाले मैंने बहुत नहीं देखे। अपने काम के किसी पक्ष की कमज़ोरी तुरन्त स्वीकारने और उसे हटाने के लिए सुझाव सुनने को उत्सुक बड़ी उम्र के आदमी पहचानने के लिए स्मृति को झकझोरना पड़ेगा। जे. पी. नाइक के लिए ये बातें एकदम मामूली थीं।

कैंसर की शुरुआत के साथ ही उनका चेहरा कुम्हलाने लगा था। वज़न तेज़ी से गिरता जा रहा था, पर उनकी आँखों में चमक बराबर बनी रही। यह चमक दूसरों को किस तरह प्रभावित करती थी, इसका एक प्रसंग सुनाता हूँ। गर्मी की एक सुबह कोई साढ़े सात बजे उन्होंने बुला भेजा। घर में दाखिल हुआ तो मैंने एक स्त्री को वहाँ देखा जिनकी पुस्तक की मेरी समीक्षा कुछ तेज़ थी, और इस बात की लम्बी शिकायत वे मुझसे कर चुकी थीं। मैं जैसे ही कुर्सी पर बैठा, वे जे. पी. नाइक से बोलीं, "नाइक साहब, कृष्ण कुमार ने हमारी किताब की आलोचना की है।" मैं अवाक् था। विश्वास नहीं हो रहा था कि एक समीक्षा की बदौलत इस परिस्थिति

में फँस जाऊँगा। प्रोफेसर नाइक ने मेरी ओर देखा और पूछा, "तुम्हें वह किताब कैसी लगी?" उनकी आँखों में एक ऐसी स्नेहपूर्ण ज्योति थी जिसके सामने शिष्टता की लम्बी, मध्यमवर्गीय ट्रेनिंग के ज़रिए मिली सच्चाई को छिपा सकने की मेरी सामर्थ्य एकदम लस्त पड़ गई। कुछ लोगों की आँखों में देखकर सच बोलने में डर लगता है। जे. पी. नाइक की आँखों में देखकर सच को छिपाने में डर लगता था। मैंने कहा, "मुझे वह एक घटिया किताब लगी।" जे. पी. नाइक के कमज़ोर चेहरे पर मुस्कुराहट छा गई। अगले दो महीने रोग के निरन्तर फैलते प्रहार के बीच वह मुस्कुराहट उभरती रही। कोई नया विचार। कोई नया सुझाव। किसी परिचित का दरवाज़े में दाखिल होना। विदा लेने को खड़ा आगन्तुक। वह मुस्कुराहट हरेक ऐसे क्षण को एक घटना बना देती थी।

पिछले चालीस साल से जे. पी. नाइक भारतीय शिक्षा की समस्याओं पर लिख रहे थे। इस लम्बी अवधि के दौरान उनकी चिन्ता का केन्द्र प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनीकरण रहा। वे मानते थे कि शिक्षा पाने के अवसर की समानता काफी नहीं है; यह भी ज़रूरी है कि अमीर-गरीब सभी बच्चे सार्वजनिक स्कूलों में साथ-साथ पढ़ें। जब तक स्कूली शिक्षा में विशेष सुविधाओं की व्यवस्था रहेगी तब तक अमीर माता-पिता अपने बच्चों के लिए बेहतर और महँगी शिक्षा खरीदते रहेंगे। उदार विचारधारा के लोग मानते आए हैं कि जनतांत्रिक समाज में शिक्षा के लिए सबको समान अवसर देना काफी है। एक बहस के दौरान मैंने जे. पी. नाइक को यह कहते सुना, "चालीस साल पहले मैं उदार (लिबरल) विचारधारा में विश्वास करता था, वह मैंने खो दिया है। लिबरल विचारधारा दुनिया में कहीं सफल नहीं हुई। हम लोग अभी तक उन्नीसवीं सदी में जी रहे हैं जबकि सारी दुनिया ने उन्नीसवीं सदी के आदर्शों को उतार फेंका है। मैं यह भी नहीं मानता कि निर्णय नेताओं की राजनीतिक इच्छा के आधार पर लिए जाते हैं। मेरी राय में प्रश्न यह है कि जो सत्ता में हैं वे किनके स्वार्थों की सेवा कर रहे हैं।"

जे. पी. नाइक के करीब रह चुके अनेक लोग ऊपर दिए गए वाक्य बाँचकर चौंकेंगे क्योंकि इन लोगों में निरन्तर अपने विचारों की समीक्षा करते रहने की वह क्षमता नहीं थी जो नाइक में थी। दूसरी खास बात जो उन्हें समाज विज्ञानियों और शिक्षा में लगे लोगों से अलग करती थी वह यह है कि वे आज के भारत की परिस्थिति की गम्भीरता और भयावहता से कन्नी नहीं काटते थे। अपने आदर्शों और लक्ष्यों की विफलता से पैदा

हुई निराशा और मोहभंग स्वीकारने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता था। उच्च मध्यमवर्ग की जीवन शैली के विस्तार और उत्पीड़ित जनता के दमन की तैयारी वे अपने चारों तरफ देख रहे थे।

शिक्षा के क्षेत्र में आदर्शवादी और दार्शनिक ढंग से सोचने और लिखने वाले लोगों की देश में कमी नहीं है। समाज-वैज्ञानिक ढंग से पूरी परिस्थिति को जाँच कर एक निश्चित राजनीतिक दिशा से जुड़े शैक्षिक कदम सुझा सकने वाले लोग भी कम नहीं हैं। जे. पी. नाइक शिक्षा की पढ़ाई का विकास समाज विज्ञान के रूप में करना चाहते थे और यही नीति उनकी आखिरी कोशिश थी जो उन्होंने भारतीय शिक्षा संस्थान को पुनर्जीवित करके की। उन्होंने अर्थ, राजनीति, समाजशास्त्र और इतिहास जैसे विषयों में काम कर रहे लोगों को शिक्षा की समस्याओं पर सोचने और लिखने को प्रेरित किया। शिक्षा की समस्याएँ कितनी जटिल और समाज की अन्य समस्याओं से कितनी गुँथी हुई हैं, यह बात शिक्षा के विकास के नुसखे तलाशने वाले लोग भूल जाते हैं। हमारे देश में किसी ऐसे आदमी की तलाश की एक पुरानी परम्परा है जो समस्याओं के सरल हल ढूँढ बताए, उन्हें लागू करने में अपना जीवन कुर्बान कर दे और जब विफल हो जाए तो सारे दोष का पात्र बनाया जा सके। जाने-अनजाने जे. पी. नाइक ने एक लम्बे समय तक शिक्षा के क्षेत्र में ऐसे आदमी की भूमिका अदा की।

किताब पढ़ने की आदत

किताब पढ़ने की आदत

हर स्कूल में पुस्तकालय हो, इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है? पर ऐसा हो भी जाए तो यह ज़रूरी नहीं कि भारी संख्या में बच्चे बहुत सारी किताबें पढ़ने लगेंगे। पुस्तकालय की व्यवस्था एक आर्थिक सवाल है, बच्चों में किताबें पढ़ने की आदत का होना एक शैक्षिक सवाल है। धनी देशों में सार्वजनिक और स्कूली पुस्तकालयों की कमी नहीं है, पर इनका समुचित उपयोग नहीं हो पाता। जिन बच्चों में किताब पढ़ने की आदत पहले से ही है, यानी घरेलू वातावरण ने पैदा की है, वे स्कूल के पुस्तकालय का उपयोग करते हैं। ये बच्चे नौकरीपेशा मध्यमवर्ग से आते हैं जिसमें माता-पिता घर पर बाल साहित्य तथा अन्य किताबें रखने की ज़रूरत समझते हैं। मज़दूरी करने वाले माँ-बाप के बच्चे घर पर किताबों से वंचित रहते हैं। बाल साहित्य इतना महँगा है कि उसे बगैर पैसा बचाए यानी बगैर योजनाबद्ध तरीके से तैयारी किए खरीदा नहीं जा सकता। यह क्षमता समय माँगती है जो कारखानों में काम करने वाले माता-पिता नहीं दे पाते।

यह स्थिति स्वीडन की है जहाँ साक्षरता लगभग शत-प्रतिशत और स्कूली शिक्षा अनिवार्य है। लगभग चालीस वर्ष की अवधि में अपने राज के दौरान स्वीडन की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने शिक्षा के ज़रिए मध्यमवर्गीय और मज़दूर परिवारों के बच्चों को उपलब्ध अवसरों में बराबरी लाने की कोशिश की। फिलहाल स्थिति यह है कि ऐसे बच्चों की संख्या बहुत अधिक नहीं है जो महज़ शिक्षा के ज़रिए मध्यमवर्गीय नौकरियों में जा रहे हों। और ऐसे बच्चे और भी कम हैं जो रुचि के कारण मध्यमवर्गीय नौकरी की जगह मज़दूरी अपना रहे हों।

जो भी हो, स्वीडन ने समतामुखी शिक्षा देने की एक चेष्टा की है। स्कूली पुस्तकालय इसी चेष्टा का एक हिस्सा हैं।

पुस्तकालय के इस्तेमाल में जो सामान्य बाधाएँ हैं उनमें से कुछ भारतीय परिस्थितियों में भी समझी जा सकती हैं, यद्यपि हमारी परिस्थितियाँ अत्यन्त भिन्न हैं और हमारी शिक्षा व्यवस्था की मौजूदा दिशा समता नहीं विषमता की ओर है। एक मुद्दा यह है कि स्कूल की हर कक्षा को दिन में कम से कम एक बार पुस्तकालय का प्रयोग करने का समय किस प्रकार मुहैया करवाया जाए। यह बाधा वास्तव में प्रबन्ध की है। पुस्तकालय के इस्तेमाल में एक मनोवैज्ञानिक बाधा एक अध्यापिका ने मुझे यह बताई कि किताबों की बहुत बड़ी संख्या देखकर बच्चे घबरा जाते हैं। अपनी रुचि की किताब वे किस कोने में तलाशें, यह नहीं सोच पाते। यदि अध्यापक पुस्तकों का चुनाव करे तो पुस्तकालय का यह उद्देश्य पूरा नहीं होता कि बच्चे स्वयं अपनी पसन्द की किताब ढूँढ सकें।

करीब पाँच वर्ष पूर्व गौतेनबर्ग (स्वीडन) में बच्चों की सम्प्रेषण क्षमताएँ बढ़ाने के उद्देश्य से एक कार्यक्रम आरम्भ हुआ जिसका एक हिस्सा कक्षा में बाल साहित्य का इस्तेमाल था। जिन स्कूलों में यह कार्यक्रम चला, उनमें से कुछ के अध्यापकों से मिलकर मुझे लगा कि यह एक उपयोगी कार्यक्रम रहा होगा, हालाँकि उसके अन्तिम परिणाम क्या हुए यह तो उन बच्चों से मिलकर ही जाना जा सकता है जो कार्यक्रम में शरीक थे। बाल साहित्य के इस्तेमाल की योजना के अन्तर्गत कक्षा के अन्दर एक खुले रैक पर तीस-चालीस पुस्तकें रखी गईं। इनमें से ज़्यादातर स्वीडी बाल साहित्य की महत्वपूर्ण कृतियाँ थीं, पर कुछ विदेशी बाल साहित्य के अनुवाद भी थे। अधिकाँश पुस्तकें उपन्यास थीं। सप्ताह में करीब तीन घण्टियाँ (प्रत्येक घण्टी चालीस मिनट की) इन किताबों की पढ़ाई के लिए नियत की गईं। पढ़ाई का उद्देश्य मुख्यतः मनोरंजन था, और कोई परीक्षा इस पढ़ाई की नहीं ली गई। हाँ, जब-तब पढ़ी गई किताबों पर चर्चा अवश्य हुई।

एक अध्यापिका ने मुझे बताया कि इस कार्यक्रम से कई बच्चों में एक पूरी किताब पढ़ने का डर दूर हुआ। स्कूली पाठ्य पुस्तकें कभी आद्योपान्त नहीं पढ़ी जातीं। भारत जैसे देश में जहाँ पाठ्य पुस्तक ही पाठ्यक्रम होती है, एक पूरी किताब पढ़ने का डर बहुत सामान्य बात है। मैं स्वयं पूरी किताब पढ़ने से डरता हूँ और सोचता रह जाता हूँ कि क्या यह डर मुझे पाठ्य पुस्तकों पर टिकी शिक्षा ने दिया है।

दिक्कत पाठ्य पुस्तक नहीं है, बल्कि पाठ्य पुस्तक के अध्यायों का टुकड़ों में अध्ययन है, और दरअसल दिक्कत यह अध्ययन भी नहीं है बल्कि इस अध्ययन पर सम्पूर्ण शिक्षा प्रक्रिया का निर्भर हो जाना है। इस

दिक्कत से मुक्ति अनिवार्य है। फिलहाल यह मुक्ति केवल हमारे केन्द्रीय स्कूलों तथा पब्लिक स्कूलों में एक हद तक मिलती है। इन स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों को घर पर और स्कूल में भी एक सम्पूर्ण और विविध जीवन जीने को मिलता है। समस्या देश के सामान्य स्कूलों की है जहाँ साधनों का अभाव रहता है और कमज़ोर घरेलू स्थिति वाले बच्चे पढ़ते हैं। इन स्कूलों में पुस्तकालय दुर्लभ हैं। कक्षा के भीतर कुछ किताबें रखकर सम्भवतः एक कोशिश की जा सकती है। निश्चित ही, इनकी देखरेख का ज़िम्मा अध्यापक को उठाना होगा। किताबों के चयन का काम भी आसान नहीं होगा क्योंकि हिन्दी बाल साहित्य में पिछले कई वर्षों से कल्पनाशील साहित्य की कमी और पाठ्यपुस्तकीय साहित्य की बढ़ोत्तरी होती रही है। बाल साहित्य कक्षा में लाने पर भी यदि पाठ्यपुस्तकीय अनुभव ही हम बच्चों को देंगे तो ऐसे कदम की कोई खास ज़रूरत नहीं है।

कहानी कहाँ खो गई?

कहानी कहाँ खो गई?

अब ऐसे लोग बड़ी कठिनाई से मिलते हैं जो अपने बच्चों को रोज़ एक कहानी सुनाते हों। पंचतंत्र के किसी प्रसंग का ज़िक्र सुनकर सात-आठ वर्ष के बच्चों के चेहरों पर परिचय का भाव प्रकट नहीं होता। बहुत-सी कहानियाँ मुँह-ज़बानी सुना सकने वाले व्यक्ति शहरों और कस्बों में दुर्लभ हो गए हैं और गाँवों में भी लगातार कम होते जा रहे हैं। नौजवान माता-पिता अपने बच्चों को किताब या पत्रिका से बाँचकर ही रोज़ एक कहानी सुना दें, यह भी ज़्यादा देखने को नहीं मिलता। ऐसी किताबें अब मुश्किल से ही मिलती हैं जिनमें छपी हुई कहानियाँ मज़े में सुनाई जा सकें। लोक कथाओं के कई उम्दा संकलन पन्द्रह-बीस वर्ष पहले तक उपलब्ध थे; अब रद्दी संकलन भी ढूँढने से मिलते हैं।

बच्चों को कहानी सुनाने की एक लम्बी परम्परा भारत में रही है। हाल के अतीत में इस परम्परा का ह्रास हुआ है। और यह ह्रास बिल्कुल स्वाभाविक था। कहानी परम्परागत रूप में जिन परिस्थितियों में सुनाई जाती थी, वे आज के पारिवारिक और सामाजिक जीवन में उपलब्ध नहीं हैं। संयुक्त परिवार और गाँव-मोहल्ले की पारम्परिक बनावट, जिसमें कहानी सुनाने की कला फली-फूली, अब व्यापक स्तर पर नहीं बची। लेकिन परिवार और समाज की नई परिस्थितियों में बच्चों को कहानी सुनाने की उतनी ही ज़रूरत है जितनी पहले थी।

सामाजिक संगठन में बदलाव की जिस प्रक्रिया से हम अब गुज़र रहे हैं, उससे मिलती-जुलती प्रक्रियाओं से दुनिया के कई औद्योगिक समाज पहले गुज़र चुके हैं। इन समाजों में बच्चों को कहानी सुनाने की परम्परा का ठीक वैसा ह्रास हुआ जैसा हम अपने यहाँ आज देख रहे हैं। किन्तु अब इन समाजों में कहानी सुनाने की कला को नए सिरे से प्रोत्साहन दिया जा

रहा है। पाँच वर्ष पूर्व अमरीकी मनोविश्लेषक ब्रूनो बैटलहाइम ने एक पुस्तक "मोह के उपयोग" (*यूज़ेज़ ऑफ इन्चैन्टमेंट*) लिखी थी। इस पुस्तक में कही गई मुख्य बात यह है कि छोटे बच्चों के भावनात्मक विकास की कई गहरी ज़रूरतें नियमित रूप से परीकथाएँ सुनकर पूरी होती हैं। उत्तरी अमरीका में इस पुस्तक की व्यापक चर्चा हुई और इससे कहानी सुनाने की कला को पुनर्जीवित करने में लगे अध्यापकों, माता-पिताओं और शिक्षाविदों को मदद मिली।

लोक कथाओं और परीकथाओं की संरचना छोटे बच्चों की सोचने की शैली से मेल खाती है, और यही इन कहानियों के प्रति छोटे बच्चों के आकर्षण का खास आधार है। बहुत गम्भीर विपदाओं के कल्पनाशील और न्याय-सम्मत हल इन कहानियों की संरचना में गुँथे होते हैं। मनुष्य की सामाजिकता और प्रकृति की चुनौती इन कहानियों की अन्तर्धारा होती है। यह धारा समाज में अपना जीवन एक छोटे शरीर और तमाम तरह की आशंकाओं के साथ शुरू कर रहे छोटे बच्चों की कई मानसिक माँगें पूरी करती है। इन कहानियों को सुनते हुए छोटे बच्चे अपनी मातृभाषा की बुनियादी लयों के सम्पर्क में आते हैं। शब्द और वाक्य रचना का एक पूरा भण्डार उनके हाथ लगता है। इस भण्डार से वंचित रह जाने वाले बच्चे कुछ बड़े होकर जब पढ़ना और लिखना सीखते हैं, तब उनके लिए भाषा एक यांत्रिक चुनौती बन जाती है। वह सहज ज़रूरत या इच्छा नहीं बन पाती। बाद में वे ध्यानपूर्वक सुनने, संयत ढंग से बोलने या संवाद में हिस्सा लेने जैसी क्षमताओं का विकास नहीं कर पाते हैं।

छोटे बच्चों को कहानी सुनाने की वकालत कई आधुनिक शिक्षाविदों ने की है, और इसी वकालत के फलस्वरूप पश्चिमी देशों में स्कूलों और पुस्तकालयों ने कहानी सुनाने को अपने नियमित कार्यक्रमों में शामिल किया है। इधर भारत में ठीक वह स्थिति दोहराई जा रही है जो अमरीका और यूरोप में तीस वर्ष पहले तक रही। हमारे स्कूलों में आजकल जल्दी से जल्दी पढ़ना-लिखना सिखाने पर ज़ोर दिया जा रहा है। ऐसे बच्चों की कमी नहीं है जिन्हें तीन-चार वर्ष की आयु में ही अक्षरज्ञान करा दिया गया हो। ध्वनि और लय के संस्कारों के अभाव में प्राप्त किया गया यह अक्षरज्ञान न केवल अनुपयोगी होता है, बल्कि अभिव्यक्ति की क्षमताओं के विकास में बाधा भी उत्पन्न करता है। देश में हवा आजकल ऐसी है कि हर क्षेत्र में लोग तुरन्त फल चाहते हैं। दवा लेते ही बीमारी दूर हो जाए और दौड़ना सीखने तक बच्चे को गिनती गिनना तथा अक्षर पहचानना

आ जाए, ये आजकल के फैशन हैं। इस वातावरण में कहानी सुनाने जैसा धीमा और नियमित काम कौन करे?

कहानी सुनाने की संस्थाई शुरुआत हमारे यहाँ रेडियो ने की थी और कभी-कभी दूरदर्शन भी यह रस्म निभा लेता है। हमारे यहाँ इन प्रसार माध्यमों का बच्चों के लिए उपयोग ठीक उस तरह हुआ है जिस तरह बाल पत्रिकाओं के सम्पादकों ने अपनी विक्रय क्षमता का उपयोग किया है। रेडियो पर बच्चों से बतियाने वाले दादा और दादियाँ तथा बच्चों की पत्रिकाओं के सम्पादक बच्चों से संवाद नहीं करते, उन पर झुककर उन्हें तोड़ी-मरोड़ी हुई भाषा में पगी उपदेश-मूलक कहानियाँ और कविताएँ सुनाते हैं। बच्चों पर झुकने की यह मुद्रा अब इतनी आम हो गई है कि कई बाल साहित्यकार इस मुद्रा की वकालत करते हुए मिल जाते हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि बच्चों को कहानी सुनाने के लिए उन्हें स्वयं बच्चा बनना पड़ेगा। इस कोशिश में वे अपनी भाषा की वह स्वाभाविक लय और अपने व्यक्तित्व की वह सहजता खो देते हैं जो बचपन में मुझे कहानी सुनाने वाले सिरवैया बब्बा की शैली में थी। वह झुककर नहीं, आराम से बैठकर कहानी सुनाते थे, और उनसे कहानियाँ सुनते हुए मुझे यह भूलने की ज़रूरत कभी महसूस नहीं हुई कि वे मुझ से पचास वर्ष बड़े थे। बड़े और छोटे के बीच का फासला कहानी स्वयं तय करती है। इस फासले को किसी कृत्रिम मुद्रा, मुस्कान या सम्बोधन से ढँकने की ज़रूरत नहीं।

हिन्दी में अब तक लोक कथाओं और परीकथाओं को लेकर यह बहस हो लेती है कि ये कहानियाँ बच्चों के लिए आज भी उपयोगी हैं या नहीं। जो लोग इन कहानियों को नुकसानदेह बताकर विज्ञान और यथार्थबोधक साहित्य की वकालत करते हैं, उनका मुख्य तर्क यह होता है कि ये कहानियाँ बच्चों को एक काल्पनिक दुनिया में रहने की प्रेरणा देती हैं। क्रांति के बाद रूस में ठीक यही बहस ज़ोरों से चली थी और वहाँ के महान शिक्षाविद् और बाल साहित्यकार कोर्नेइ चुकोव्सकी ने परीकथाओं और लोक कथाओं का तगड़ा समर्थन किया था। उनका कहना था कि इन कहानियों का विरोध करने वाले लोग पोंगा क्रांतिकारी हैं जो न बच्चों को समझते हैं, न लोक साहित्य को। ऐसे लोगों की हमारे यहाँ कमी नहीं है। हमारी प्रसारण व्यवस्थाओं और शिक्षा से जुड़े अनेक लोग यह कहते मिल जाएँगे कि कहानी सुनाने का मुख्य फायदा यह है कि कहानी के ज़रिए कोई अच्छी सीख बच्चों को दी जा सकती है। इस मान्यता के बल पर वे सब सीख को ध्यान में रखकर उसके इर्द-गिर्द कहानी बुन सकते हैं। उनके

लिए यह समझना कठिन है कि कहानी कहने की उपयोगिता कहानी की सीख नहीं, कहने के धीरज और ढंग में है। कहानी के ज़रिए नैतिकता, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास और संस्कृति बच्चों को देने की बात बहुत हो चुकी और इस बात के परिणाम कोई खास नहीं निकले। क्यों न अब इस बात पर ज़ोर दिया जाए कि कहानी सुनने लायक हो?

फिर... फिर...

मुम्बई में इस साल की माध्यमिक विद्यालय प्रमाणपत्र परीक्षा में एक मिल मज़दूर का बेटा प्रथम आया। इस घटना पर हुए जनोल्लास से पता चलता है कि हमारे समाज में परीक्षा प्रणाली की कितनी अर्थपूर्ण भूमिका है। इससे यह भी पता चलता है कि परीक्षा प्रणाली को बदलना इतना मुकिश्ल क्यों है।

परीक्षा प्रणाली के सामाजिक मूल्य इसकी गोपनीयता से पैदा होते हैं। हर कदम पर गोपनीयता के कर्मकाण्ड और नाटकीयताएँ हैं। नियत समय पर देश भर में परीक्षार्थियों के सामने सील किए हुए लिफाफे को खोलना किसी राष्ट्रीय धार्मिक संस्कार से कुछ कम नहीं है। यह संस्कार वहाँ भी सम्पन्न होता है जहाँ बाद में खुलकर चोरी करने की इजाज़त दे दी जाती है। पवित्र तीन घण्टों के खत्म होते ही जल्दबाज़ी में कापियाँ छीना जाना इसी नाटकीयता का एक हिस्सा है। उसके बाद एक या दो महीने का वह दौर शुरू होता है जब ऐसे व्यक्तियों द्वारा इन कापियों की जाँच होती है जिन्होंने परीक्षार्थियों को कभी नहीं देखा है। अन्त में अखबारों के ज़रिए बड़े नाटकीय ढंग से हर परीक्षार्थी तक नतीजे पहुँच जाते हैं।

इस पूरी प्रक्रिया का एक ही सन्देश है कि परीक्षा प्रणाली पूरी तरह निष्पक्ष है और हर एक को मान्यता के आधार पर मौका देती है। भिन्न-भिन्न प्रकार की सामाजिक पृष्ठभूमियाँ और स्कूलों की गुणवत्ता के स्तर परीक्षा की मेज़ पर पहुँचकर खत्म हो जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि किसी की भी पहुँच किसी विशेष सुविधा तक नहीं है: उन तीन घण्टों के दौरान हर परीक्षार्थी हर एक के साथ पक्षपात-रहित दिखने वाले ढंग से प्रतियोगिता कर रहा होता है।

इस प्रकार इस परीक्षा पद्धति ने गणतंत्र के बुनियादी सिद्धान्तों को बचाए

रखा है। लेकिन वह सामाजिक ढाँचे और शिक्षा प्रणाली में गहरे पैठे विभाजन को छिपाती भी है। "पब्लिक" स्कूल में पढ़े धनी छात्र को "बाध्य" किया जाता है कि वह सरकारी स्कूल में पढ़े गरीब छात्र के साथ प्रतियोगिता करे। सभी उम्मीदवार समान हैं – इस आवरण के नीचे शिक्षा प्रणाली की गन्दी वास्तविकताएँ (जैसे नर्सरी के लिए प्रवेश परीक्षा और निजी ट्यूशन) ढँक जाती हैं।

एक ऐसे समाज में जहाँ असमानता की जड़ें गहरी हैं और बहुसंख्य लोग अन्याय के हज़ारों रूपों से पीड़ित हैं, परीक्षा प्रणाली एक संगीन सांकेतिक काम करती है। वह एक ऐसे समाज में आशा का प्रतीक है जहाँ गरीबी या सामाजिक पिछड़ेपन के शिकार लोगों के लिए उम्मीद की कोई किरण नहीं। जाति प्रथा से ग्रस्त समाज में, जहाँ वैयक्तिकता के लिए कोई गुंजाइश नहीं है, यह परीक्षा पद्धति सफलता और विफलता दोनों को एक व्यक्तिगत रूप दे देती है। अगर तुमने अच्छे नम्बरों से पास किया है तो यह तुम्हारी प्रतिभा और कठोर मेहनत का नतीजा है, अगर तुम फेल रहे तो यह तुम्हारी कमज़ोरी का प्रमाण है। ये दोनों सन्देश, खासकर बाद वाला, सामाजिक श्रृंखला को बनाए रखने में भारी योगदान करते हैं। वे उस गुस्से को जज़्ब कर लेते हैं जो फेल होने वाले लाखों युवाओं में सामाजिक संस्थानों – खासकर स्कूलों – के प्रति पैदा होना चाहिए।

यही वजह है कि मुम्बई की माध्यमिक परीक्षा में मज़दूर वर्ग के एक बच्चे की चमकदार सफलता 60 प्रतिशत बच्चों की विफलता से ज़्यादा महत्वपूर्ण हो जाती है। फिर तो इस बात की जाँच करने की कोई ज़रूरत ही नहीं रह जाती कि फेल होने वालों में अधिकाँश मज़दूर वर्ग के ही बच्चे हैं। मुम्बई में ऐसे 51 प्रतिशत म्युनिसिपल स्कूल हैं जहाँ के किसी भी बच्चे ने इस साल सफलता हासिल नहीं की है। इस शोकपूर्ण स्थिति के कारण जिस जनक्रोध की अपेक्षा की जा सकती है वह परीक्षा प्रणाली के जादू से एक गरीब विद्यार्थी की उपलब्धि के समारोह में बदल जाता है।

जब तक शिक्षा और रोज़गार के अवसरों के ढाँचे में कोई मौलिक बदलाव नहीं आता, तब तक परीक्षा प्रणाली में मामूली सुधार भी आश्चर्यजनक ही होगा। अक्सर इस बदलाव के बारे में चर्चा होती है कि अंकों के स्थान पर ग्रेड दिए जाएँ। कुछ संस्थानों, जैसे दिल्ली विश्वविद्यालय, ने यह अपनाया भी, लेकिन बाद में वे फिर अंक देने लगे। इसका कारण उत्साह और प्रबन्ध कौशल की कमी माना जाता है, परन्तु उसका वास्तविक

रिश्ता भारत में शिक्षा के समाजशास्त्र से है। ग्रेडों की बजाय अंक हमारी सामाजिक स्थितियों के ज़्यादा अनुकूल हैं। रोज़गार के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में चयन की प्रक्रिया में 80 प्रतिशत या उससे भी अधिक उम्मीदवारों की छँटनी निश्चित होती है। व्यावसायिक शिक्षा में चयन का सच भी यही है। चयन की इस कठोरता को व्यावहारिक बनाने के लिए आवश्यक है कि उम्मीदवारों को साफ-साफ वर्गों में बाँट दिया जाए। यह काम ग्रेड नहीं, अंक देने की पद्धति ज़्यादा अच्छे ढंग से करती है।

केन्द्रीय परीक्षाएँ, मूल्यांकन में अंक देने की पद्धति और योग्यता सूची भारत के स्कूल परिदृश्य का उतना ही महत्वपूर्ण अंग हैं जितना विभाजित स्कूल प्रणाली (जो तीन वर्ष की उम्र में ही बहुत से बच्चों को शिक्षा पद्धति से बाहर कर देती है), व्यापक बेरोज़गारी और असुरक्षा। जब तक हमारे समाज में स्कूल प्रणाली की एकरूपता स्थापित नहीं होती, तब तक हमें अपनी पुरातन शिक्षा प्रणाली जैसे उत्प्रेरकों की ज़रूरत पड़ेगी ही, ताकि लोगों में यह आशा पैदा हो सके कि अन्ततः यहाँ हर व्यक्ति को समान अवसर मिल सकता है। इसी तरह नौकरियों और उंच्च शिक्षा में प्रवेश के अवसर लगातार सीमित रहने और चयन की कठोरता की ज़रूरत बने रहने के कारण हम उस अंक पद्धति को भी अपनाए रखेंगे जो हमें इस बात की इजाज़त देती है कि हम 85 नम्बर पाने वाले को तो ले लें, पर 84 नम्बर पाने वाले को खारिज कर दें। मूल्यांकन की कोई भी अन्य पद्धति, वह चाहे जितनी भी तर्कपूर्ण हो, यह सुविधा उपलब्ध नहीं करा सकती।

धर्मनिरपेक्ष राज्य की जड़ें

धर्मनिरपेक्ष राज्य की जड़ें

धर्मनिरपेक्षता जिस शब्द का अनुवाद है वह 1976 में किए गए संशोधन के ज़रिए संविधान में आया था, पर उस शब्द की भावना संविधान में शुरू से थी। शब्द है "सेक्युलिरिज़्म"। चालीस साल से यह शब्द विवाद का विषय रहा है। विवाद मुख्यतः दो व्याख्याओं के बीच है। एक व्याख्या इस शब्द की यूरोपीय जड़ों को स्वीकारती है। इस व्याख्या के समर्थकों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और जवाहरलाल नेहरू हुए। उनके तमाम लेखन में बहने वाली अन्तर्धारा कहती है कि नए भारत का निर्माण करने के लिए राजनीति को पारम्परिक धर्मों से निरपेक्ष रहना होगा। दूसरी व्याख्या के समर्थकों में राधाकृष्णन थे जो "सर्वधर्म समभाव" को ही भारत के लिए उपयोगी "सेक्युलर" नीति मानते थे। यह व्याख्या सामान्य व्यवहार में काफी लोकप्रिय हुई है। राष्ट्रपति का मन्दिरों और मस्ज़िदों में जाना इसी व्याख्या के तहत सम्भव बनता है। वरना पहली व्याख्या के अनुसार देश के हरेक नागरिक के साथ-साथ राष्ट्रपति को भी अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन के बीच स्पष्ट अन्तर कायम रखना चाहिए। यह उनका हक है कि वे अपनी धार्मिक आस्था का पालन करें, पर अपने सार्वजनिक जीवन में – यानी राष्ट्रपति होने के नाते – उन्हें अन्य धार्मिक आस्थाओं के अवसरानुकूल पालन से दूर रहना चाहिए।

चालीस वर्षों में ऐसी ढेरों घटनाएँ घटी हैं जो धर्मनिरपेक्षता की पहली व्याख्या को ज़्यादा उपयोगी ठहराती हैं। साथ ही ये घटनाएँ दिखाती हैं कि भारत में राज्य नीति धर्मनिरपेक्षता की इस व्याख्या के रास्ते से किस कदर भटकी है। पहली व्याख्या के गुण तो तभी स्पष्ट होने लगे थे जब धर्म की आड़ लेकर भाषा के या भाषा की आड़ लेकर धर्म के आधार पर राजनीतिक माँगें उठाई जाने लगीं। धीरे-धीरे प्रान्तीयता के बहाने धर्म पर आधारित दलों की शक्ति बढ़ने लगी। राज्य के पास इस प्रक्रिया से

निबटने का कोई औज़ार न था। राज्य की धर्मनिरपेक्षता संविधान में मुख्यतः इसी रूप में स्पष्ट की गई थी कि किसी नागरिक को अपने धर्म की खातिर गैर-बराबरी न सहन करनी पड़े। पर इस बुनियादी अर्थ में भी राज्य नीति उस वक्त धर्मनिरपेक्षता की पहली व्याख्या से एकदम हट गई जब धर्म के ही नाम पर मुस्लिम स्त्री को गैर-बराबरी स्वीकार कराने वाला कानून राज्य ने बना डाला। इस कदम से धर्मनिरपेक्षता की दूसरी व्याख्या पुष्ट हुई जो कहती है कि राज्य को हर धर्म का बराबर आदर करना चाहिए।

यह दूसरी व्याख्या कितनी अव्यावहारिक और खर्चीली है इस बात का एक सुलभ प्रमाण सरकारी छुट्टियों की सूची है। राज्य चाहता तो सरकारी छुट्टी की पात्रता सिर्फ स्वाधीनता और गणतंत्र दिवस को देता, पर वह चल निकला हरेक धर्म से जुड़े पवित्र दिनों या त्यौहारों को मान्यता देने। परिणाम यह है कि राजकाज साल में पन्द्रह दिन सिर्फ इसलिए बन्द रहता है कि उन दिनों कोई न कोई त्यौहार पड़ता है। छुट्टियों का यह विस्तृत इन्तज़ाम दिखाता है कि हमारी राज्य नीति एक खास किस्म के दबाव ने गढ़ी है। यह दबाव था "अल्पसंख्यक" कहे जाने वाले धार्मिक समूहों को यह एहसास दिलाने का कि उनकी पहचान भारतीय गणराज्य में सुरक्षित है। पर इस एहसास की ज़रूरत का सन्दर्भ यह था कि राज्य बहुसंख्य जनता की धार्मिक पहचान से आँखें मूँदने को तैयार नहीं था।

बुनियादी कमज़ोरी यह रह गई कि एक पूर्णतः लौकिक राज्य नीति चलाने के लिए ज़रूरी परिस्थितियों और अवयवों की ओर आज़ादी के बाद के दशकों में सरकार ने ध्यान नहीं दिया। धर्मनिरपेक्षता की संवैधानिक राह पर चलने के लिए आवश्यक था कि लोगों के सामान्य जीवन में धार्मिक विश्वासों की पैठ कुछ घटे। खास तौर पर जीवन के उन क्षेत्रों में धर्म का सम्बल लेने की प्रवृत्ति घटे जो मनुष्य को उसकी असुरक्षा का बोध कराते हैं। ऐसा एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है बीमारी, जो मृत्यु को जीवन की एक बड़ी चिन्ता बनाए रखती है। मृत्यु की व्याख्या करने में धर्म खूब व्यस्त रहा है, बल्कि सच यह है कि धर्म का सम्बल लोक जीवन में फैला ही बहुत कुछ इस कारण कि मनुष्य को मृत्यु के डर और रहस्य से निबटने की ज़रूरत बराबर सताती रही। एक ऐसे समाज में जहाँ एक पिता के तीन-चार बच्चे मरने के बाद एक बच्चा जीवित रह पाता हो, मृत्यु की लीला से गहरा सरोकार बराबर बना रहना स्वाभाविक है। भारतीय राज्य नीति यदि

स्वास्थ्य सेवाओं को इतना पुख्ता बना देती कि मृत्यु की बालग्रासी छाया कुछ सिमटती तो धार्मिक विश्वासों की एक परिधि भी काफी सिमट जाती।

पर ऐसा न हुआ। बल्कि इसका उलट हुआ। राज्य ने स्वास्थ्य, मकान और शिक्षा जैसे क्षेत्रों पर सबसे कम ध्यान देकर लोक जीवन में धर्म की प्रासंगिकता और उपयोगिता का एक बहुत बड़ा इलाका बना रहने दिया। इस इलाके में धर्म की ऊर्जा कला और भाषा की जड़ें सींचने में नहीं, मनुष्य के अकेलेपन के मिथ्या भाव और उसके बहाने उत्पीड़न और शोषण की जड़ें सींचने में लगती हैं। जातियों में बँटे और औरत का शोषण करने के आदी समाज में तो यह इलाका और भयानक रूप से उर्वर हो उठता है। इस इलाके में जड़ें जमाए धर्म की पकड़ राज्य की लौकिक शक्ति को उठने ही नहीं देती। राज्य शक्ति विकृत होकर कभी छटपटाती है, कभी झूठे वायदे देती है, और अन्ततः तमाम लोकतंत्री आग्रहों के बावजूद चन्द ताकतवर वर्गों के हाथों में पड़ी रहती है। मातृत्व पाने की सहज लालसा में मौत का शिकार बनी औरत व जन्म के बाद के महीनों में साधारण से दस्त से मृत्यु का शिकार बना शिशु समाज में रहस्य और उसकी व्याख्या के वर्चस्व पर आधारित धर्म के शहीद बनते चले जाते हैं। भारत में यही तो हुआ है।

धर्मनिरपेक्षता की दुहाई खूब दी गई, कानून बनाने में उसका प्रयोग भी किया गया, पर उसके पनपने के लिए ज़रूरी ज़मीन तैयार नहीं की गई। ज़मीन शिक्षा और संचार माध्यमों की मदद से नरम बनाई जा सकती थी। पर इन दोनों साधनों को लेकर भी भारतीय राज्य नीति ढुलमुल रही। निरक्षरता फैलने दी गई। स्कूल ऐसी हालत में रहने दिए गए जिनमें जिज्ञासा और खोज की क्षमताएँ कुचल दी जाती हैं। विज्ञान भी पढ़ाया जाता है तो इस तरह जैसे श्लोक। अपने इर्द-गिर्द के संसार को स्वयं जाँचने की प्रेरणा देना एक धर्मनिरपेक्ष समाज की रचना में बेहद उपयोगी भूमिका निभा सकता था। धर्मनिरपेक्षता का एक सिद्धान्त यह है कि इस दुनिया की समस्याओं, जैसे गरीबी और कष्ट, के स्रोत और हल इसी दुनिया के सन्दर्भ में ढूँढे जाएँ, किसी और दुनिया में नहीं। इस सिद्धान्त का प्रसार केवल व्यवहार और अनुभव से हो सकता है, प्रचार से नहीं। एक तरफ राज्य से जुड़े अनेक व्यक्तियों का व्यवहार इस कसौटी की अवमानना करता रहा। दूसरी तरफ संचार माध्यमों ने "सर्वधर्म समभाव" वाली व्याख्या का प्रसार किया।

बहुत से लोग "सर्वधर्म समभाव" वाली व्याख्या से गाँधी को जोड़ते हैं। उनका आग्रह है कि गाँधी की परिकल्पना का भारतीय राज्य यूरोप की "सैक्युलर" नीति से भिन्न होता। इस आग्रह के पीछे दलील यह रहती है कि गाँधी ने राजनीति को धर्म से तोड़ने की जगह जोड़ने का प्रयास किया। कुछ प्रसंगों में गाँधी ने भले ऐसा किया हो, पर अपने कई बड़े कामों में गाँधी ने पारम्परिक धर्मों की धार को भोथरा बनाने का प्रयास किया। "ईश्वर अल्ला तेरे नाम" के सामूहिक गायन का एक ध्येय ऐसा माहौल बनाना था जिसमें भगवान की अवधारणाओं के तीखे भेद मन्द पड़ जाएँ। पर गाँधी का सबसे बड़ा प्रयास, जिससे धर्मनिरपेक्षता की पहली व्याख्या वाली धारा पुष्ट होती, बुनियादी शिक्षा को लेकर था। इस कार्यक्रम में शिक्षा की प्रक्रिया को बच्चे के सक्रिय अनुभवों पर निर्भर बनाने की व्याख्या थी। नैतिक मूल्य सिखाने का ज़िम्मा भी सक्रिय अनुभवों पर छोड़ दिया गया था। गाँधी का प्रस्ताव था कि ये अनुभव स्थानीय उत्पादन प्रक्रियाओं से निकलें। स्कूल में समाज के उत्पीड़ित वर्गों को जीवित रखने वाले कौशल और ज्ञान को स्थान मिले। बुनियादी शिक्षा की अवधारणा पूरी तरह लौकिक ज्ञानार्जन पर बल देती थी। टैगोर के उपक्रम के बाद यह पहली योजना थी जो बच्चे के शरीर और हाथों से ज्ञान का सम्बन्ध बैठाती थी। इन सूक्ष्म आयामों के अलावा बुनियादी शिक्षा की धर्मनिरपेक्षता का सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि उसमें धर्म की शिक्षा के लिए स्थान नहीं था। महात्मा गाँधी अपने वास्तविक ध्येय का इससे बड़ा क्या इशारा छोड़ सकते थे?

निरक्षरता बनाए रखने की राजनीति

निरक्षरता बनाए रखने की राजनीति

हमारे देखते ही देखते शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य ढह गए हैं। शिक्षित मनुष्य की कोई सुविचारित अवधारणा शिक्षा व्यवस्था में नहीं देखी जा सकती। स्वार्थ के लिए नैतिकता को ताक पर रखकर चलने वाला, अपने से कमज़ोर का शोषण करने को तैयार और समाज का अगुआ होने का दम भरने वाला व्यक्ति शिक्षित कहलाता है। वह जिस मुखौटे को पहनकर अपने सामाजिक और आर्थिक हितों के लिए लड़ता है, उसी मुखौटे का नाम शिक्षा है। विशेषकर राज्य की शक्ति और सुविधाओं का उपयोग अपने पक्ष में करने के लिए यह मुखौटा बहुत काम का है। वह शिक्षित मनुष्य के सारे वर्गीय हितों को छिपा कर उसे साधारण, निरक्षर जनता से भिन्न और श्रेष्ठतर नागरिक के रूप में सामने रखता है।

इस मुखौटे की भंगिमा समझनी हो तो प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों की ओर नज़र दौड़ाना सबसे सुगम रास्ता होगा। प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों का उद्देश्य उस बहुसंख्य समाज तक पहुँचना है जो अपने बचपन में शिक्षा व्यवस्था के दायरे से बाहर रहा। ज़ाहिर है, मैं यहाँ उन देशों की बात नहीं कर रहा जहाँ प्रौढ़ शिक्षा सामान्य शिक्षित लोगों की अपनी रूचियों या स्थानीय कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने में मदद देती है। हमारे देश में प्रौढ़ शिक्षा की घोषणाएँ भले ही इसी किस्म के व्यापक लक्ष्यों का हवाला देती हों, यथार्थ में प्रौढ़ शिक्षा निरक्षर बड़ों को साक्षरता देने में सक्रिय है। अपनी इसी भूमिका में वह शिक्षित मनुष्य के महिमामण्डन का साधन बनती है। कैसे?

पहला कदम यह रहता है कि निरक्षर लोगों को अँधकारग्रस्त बताया जाए। प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों के साहित्य और घोषणा-पत्रों में निरक्षर जनता की बेहद निरादरपूर्ण छवि पेश की जाती है। उसे जाहिल, अँधविश्वासी और विवेकहीन बताया जाता है। दूसरे कदम के तौर पर इस तस्वीर को

निरक्षरता से जोड़ा जाता है। तर्क दिया जाता है कि अँधविश्वासों और विवेकहीनता का कारण साक्षरता या शिक्षा का अभाव है। इस प्रकार निरक्षरता के सामाजिक आधार छिपा लिए जाते हैं। वह एक प्रकार की सामूहिक बीमारी या महामारी बन जाती है। महामारी के उन्मूलन का ज़िम्मा अपने आप शिक्षित वर्ग के पास आ जाता है। दिए गए तर्क अनुसार, यदि निरक्षर मनुष्य विवेकहीन है, जाहिल और अँधविश्वासी है, तो साक्षर मनुष्य विवेकवान, होशियार तथा दृष्टिवान कहलाया। निरक्षर आदमी यदि अँधेरे में जीवन के कष्ट भोगता दिखाया जाए, तो साक्षर आदमी प्रकाश में जीवन के सुखों की ओर आत्मविश्वास के साथ दौड़ता हुआ प्रतीत होता है।

बस यही है उस मुखौटे का प्रतीक विज्ञान जिसे पहनकर शिक्षित भारतीय अपने हितों की रक्षा करता है। इस प्रतीक विज्ञान का सार यही है कि शिक्षा या साक्षरता के सामाजिक आधारों पर परदा डालकर शिक्षा को एक व्यक्तिगत उपलब्धि और चारित्रिक कवच के तौर पर पेश किया जाए। बाकी काम खुद-ब-खुद बनता चला जाएगा। निरक्षरता एक तरह की बदनसीबी बन जाएगी। समाज के शोषित वर्गों की वास्तविक बदनसीबी का कारण उनकी निरक्षरता में नज़र आने लगेगा। इस प्रकार सामाजिक सत्य एकदम उलटा नज़र आएगा।

इतना तो हर किसी को दिखाई देता है कि निरक्षर लोग वही हैं जो आर्थिक और सामाजिक रूप से दलित हैं। निरक्षरता उनके दलन का एक परिणाम है। सम्पत्तिहीन जनता के अधिकारों को कुचलने वाली आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था सार्वजनिक शिक्षा और स्वास्थ्य की ओर ध्यान नहीं देती। वह श्रमजीवी समाज को ऐसी परिस्थितियों में रखती है जिनमें उसकी सन्तान कुपोषित और अशिक्षित रहे। गाँव के गरीब बच्चों के लिए कहने को स्कूल अवश्य चलाए जाते हैं, पर उनका इन्तज़ाम ऐसा रहता है कि ज़्यादातर बच्चे एक-दो साल में स्कूल छोड़ दें और पढ़ना-लिखना भी न सीख सकें। इस प्रकार निरक्षरता का प्रजनन जारी रहता है और उसकी ज़िम्मेदारी स्वयं निरक्षर लोगों के मत्थे मढ़ दी जाती है। सामाजिक सत्य यह है कि निरक्षरता गरीब वर्गों पर अन्यायपूर्ण व्यवस्था की पकड़ की पहचान है। यही पहचान प्रौढ़ शिक्षा के घोषणा-पत्रों और पाठ्यक्रम में खास तौर से दबाई जाती है। उसकी जगह यह "सत्य" उभारा जाता है कि निरक्षरता लोगों की अकर्मण्यता की निशानी है।

हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि प्रौढ़ साक्षरता के तमाम कार्यक्रम लगातार विफल होते रहे हैं। जिस "सत्य" पर वे आधारित रहे हैं और जिसे हमने अभी-अभी असली रूप में देखा है, वह "सत्य" नई बात सीखने के लिए ज़रूरी मनोवैज्ञानिक स्थिति को असम्भव बना देता है। नई बात साक्षरता हो या अपेक्षाकृत सरल कौशल, उसे सीखने के लिए ज़रूरी है कि सीखने वाले के आत्मसम्मान को ठेस न पहुँचाई जा रही हो। यह शर्त प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों की योजना में उसी क्षण टूट जाती है जब साक्षरता सीखने वाले व्यक्ति को विवेकहीन और अँधकारग्रस्त करार दे दिया जाता है। ठीक है कि यह सामूहिक सन्दर्भ में कहा जाता है, अलग-अलग या व्यक्तिगत सन्दर्भों में नहीं। पर यह प्रौढ़ शिक्षा के समूचे पाठ व पाठ्य सामग्री में झलकता है। यह उस प्रत्येक प्रचार वाक्य में समाया रहता है जिसमें सरकार दावा करती है कि वह निरक्षरता को "मिटाएगी" या साक्षरता का "प्रकाश" फैलाएगी।

शिक्षित लोग और विशेषकर प्रौढ़ शिक्षा के निदेशक व कार्यकर्ता इस अपमान को ताड़ नहीं पाते, क्योंकि आखिर वह उन्हीं के अहम की प्रतिछवि होता है। पर साक्षरता प्राप्ति को उत्सुक व्यक्ति के लिए कुछ भी छिपा नहीं रहता। अव्वल तो उसने वह पूरा बचपन जिया होता है जिसमें ठीक से पढ़ने-लिखने के अवसर उसके पास नहीं आए। दूसरे, वह अपने इर्द-गिर्द निरन्तर इस बात के प्रमाण पाता रहता है कि शिक्षित या साक्षर लोग नैतिक और बौद्धिक श्रेष्ठता का पाखण्ड रचकर शिक्षा का प्रयोग अशिक्षित जनता को दबाए रखने के लिए करते हैं। वह इसे सैद्धान्तिक रूप से भले कभी व्यक्त न कर सके, पर समझता अवश्य है कि शिक्षित लोग उसे जाहिल और तुच्छ बताकर स्वयं का उद्धार करते हैं और इस सच्चाई को कभी सामने नहीं आने देते कि वे अन्यायी व्यवस्था में सुखी हैं, उसके पक्षधर हैं।

प्रश्न सिर्फ इतना रह जाता है कि साक्षरता का कोई विश्वसनीय कार्यक्रम किस प्रकार चलाया जाए। ऐसे किसी भी कार्यक्रम की तैयारी प्रौढ़ शिक्षा की स्थापित मान्यताओं को छोड़कर ही की जा सकती है। विशेषकर इस मान्यता को तो हमें खुलेआम छोड़ना होगा कि निरक्षर लोग अँधकार से ग्रस्त या अँधविश्वासी हैं। हमें यह सच्चाई स्वीकारनी होगी और सबके सामने उजागर करनी होगी कि अँधविश्वासों की जड़ें शिक्षित समाज में उतनी ही गहराई तक फैली हैं जितनी अशिक्षित समाज में फैली हैं। हमें इस सच को भी सार्वजनिक रूप से मानकर दिखाना होगा कि देश की

मौजूदा शिक्षा अँधविश्वासी मनोवृत्ति पर कोई असर नहीं डालती, केवल उसे छिपाना सिखा देती है। शिक्षित मनुष्य का दोहरा चरित्र खोलकर ही समाज में संवाद का वह सिलसिला आरम्भ किया जा सकता है जो अशिक्षा और साक्षरता के किसी व्यापक कार्यक्रम को भरोसेमन्द और ईमानदार बनाएगा।

ऐसा कार्यक्रम राजनीति से अलग नहीं रह सकता। वह एक कल्याणकारी योजना या सरकारी मिशन की तरह नहीं चलाया जा सकता। उसे चलाने के लिए समूची आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का बेबाक विश्लेषण होना चाहिए। और ऐसे विश्लेषण को लोकप्रिय प्रसार माध्यमों से साधारण जन तक पहुँचाने का साहस चाहिए। यदि सरकार में इतना साहस नहीं है तो उसे प्रौढ़ साक्षरता को एक ठोस कार्यक्रम के रूप में चलाने का सपना छोड़कर, अपेक्षाकृत कम साहस माँगने वाले किन्तु इतने ही आवश्यक कार्यक्रमों की ओर ध्यान देना चाहिए।

बच्चों की शिक्षा का पुखता प्रबन्ध करना ऐसा ही एक कार्यक्रम है। प्रौढ़ साक्षरता के विपरीत बाल-साक्षरता का सफल कार्यक्रम बगैर विशेष राजनीतिक साहस के चलाया जा सकता है। बाल साक्षरता अन्ततः प्रौढ़ निरक्षरता की व्यापकता को प्रभावित करेगी। किन्तु यदि सारी योजना और चिन्ता ही इस बात को लेकर हो कि निरक्षरता किस प्रकार बनाए रखी जाए तो बाल शिक्षा कभी पर्याप्त ध्यान और साधन नहीं पा सकती।

शिक्षा में हस्तेक्षप ज़रूरी है

शिक्षा में हस्तेक्षप ज़रूरी है

स्कूली शिक्षा में "सार्वजनिक" यानी सरकारी व्यवस्था में समाज की हिस्सेदारी, जो पहले ही कम थी, अब लगभग समाप्त हो गई है। सार्वजनिक संस्थाओं में पढ़ने वाले बच्चों के दैनिक जीवन के एक महत्वपूर्ण हिस्से का संचालन नौकरशाही बिना किसी रोकटोक के कर रही है।

अध्यापक नौकरशाही के प्रति मन से या बेमन से समर्पित हैं। उनके पास न तो अपनी कोई संगठनात्मक शक्ति है, न वे किसी व्यापक समूह के गठन की किसी प्रक्रिया से जुड़े हैं। जो टूटे-फूटे संगठन विभिन्न राज्यों में हैं, उनमें किसी राजनीतिक दृष्टि या सामाजिक दर्शन का प्रमाण नहीं मिलता। बच्चों को आज अध्यापन के ज़रिए किस किस्म के सामाजिक और आर्थिक व्यवहार की ओर मोड़ा जा रहा है, भारतीय समाज की मौजूदा संरचना में शिक्षा कैसी भूमिका निभा सकती है, इस तरह के प्रश्नों पर अध्यापकों की ओर से कोई संगठित चिन्ता व्यक्त नहीं की जा रही है। अध्यापक अपनी आर्थिक स्थिति और असम्भव दिनचर्या से इस कदर पिटे हुए हैं, और शिक्षा के अधिकारियों के सामने इतने अशक्त हैं, कि उनसे शिक्षा की स्थिति पर कुछ नया सोचने और फिर उस आधार पर स्थिति में हस्तक्षेप करने की पहल की आशा करना कठिन है। उनकी विडम्बना यह है कि वे स्वयं शिक्षा की समस्या बन गए हैं।

शिक्षा पर हावी राजनीति

राजनीति में सक्रिय लोग एक अरसे से यह सुनते आ रहे हैं कि उन्हें शिक्षा से दूर रहना चाहिए। इस माँग का भावार्थ यह है कि समाज में जिस वर्ग का राजनीतिक वर्चस्व है, उसी की राजनीति शिक्षा में चलने दो और उसे राजनीति मत कहो। सबलों की राजनीति से अलग जो थोड़ी-बहुत राजनीति शिक्षा में पिछले दस पन्द्रह वर्षों में दिखाई दी, उसका दायरा

बहुत संकरा था। प्रतिपक्षी राजनीतिक दलों ने विश्वविद्यालयों और कालेजों के छात्रों को संगठित करने का यत्किंचित प्रयास किया, मुख्यतः इस ध्येय से कि छात्रों के बीच कुछ ऐसे नेता तैयार हो जाएँ जो सामूहिक शक्ति प्रदर्शन के मौकों पर अपनी ताकत दिखा सकें। सामाजिक चेतना के नाम पर एकदम शून्य शिक्षा पा रहे युवाजन कैम्पस की राजनीति के ज़रिए कुछ अनौपचारिक शिक्षा पा सकें, यह कोशिश किसी दल ने नहीं की। यह सही है कि कुछ अनौपचारिक शिक्षा थोड़े-बहुत छात्रों को मिली। पर इस दिशा में सम्भावनाएँ जितनी अधिक थीं, उपलब्धियाँ उतनी ही कम।

युवा राजनीति विश्वविद्यालय स्तर के छात्रों को यह बोध नहीं दे सकी कि वे स्वयं दलितों के शोषण में हिस्सेदार हैं। वर्ग चेतना के नाम पर भारतीय विश्वविद्यालयों की राजनीति में इक्के-दुक्के प्रयास ही नज़र आते हैं। इसका परिणाम आज हम गुजरात और आँध्र प्रदेश में देखते हैं जहाँ उच्च शिक्षा पा रहा छात्र हरिजन के साथ घृणित व्यवहार करता है, या उनकी बस्तियों को आग में झोंक देता है। आशय यह है कि राजनीतिक दलों के ज़रिए शिक्षा में जो हस्तक्षेप किया गया वह बहुत सतही और एकांगी था।

स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में आज के राजनीतिज्ञ ज़्यादा नहीं बोलते। ज़्यादा क्या, यदि मंत्री को छोड़ दें, तो बिलकुल नहीं बोलते। गोपाल कृष्ण गोखले, लाला लाजपतराय, एनी बेसेंट और गाँधी जैसे नेताओं ने स्कूली शिक्षा पर विस्तार से लिखा, भाषण दिए, विधेयक प्रस्तुत किए, उसे सामाजिक व राजनीतिक कार्यक्रमों में ऊँची जगह दी। शिक्षा इन नेताओं के लिए महज़ एक और क्षेत्र नहीं थी, केन्द्रीय महत्व का क्षेत्र थी। आज का कोई नेता शिक्षा में उस स्तर की दिलचस्पी नहीं लेता। न किसी नेता के पास शिक्षा को लेकर कोई नए विचार या जानकारी को नए ढंग से समायोजित करने की कोई क्षमता ही है। नए विचार न सही, पुराने कार्यक्रमों को जीवित रखने की प्रेरणा भी नहीं है। उदाहरण के तौर पर शिक्षा में बराबरी की बहस को जीवित रखने और संविधान के पैंतालीसवें अनुच्छेद में उल्लिखित नीति निर्धारक सिद्धान्त की बात को आज लागू नीतियों के सन्दर्भ में उठाने की ज़रूरत संसद या विधानसभाओं में कोई महसूस ही नहीं करता। "पब्लिक" स्कूलों को लेकर कोई व्यापक सैद्धान्तिक बहस हमारे नेताओं ने नहीं चलाई। इंग्लैण्ड की लेबर पार्टी ने वहाँ के "पब्लिक" स्कूलों को कानूनन कमज़ोर करने के लिए एक

कार्यक्रम बनाया है। लेकिन हमारे यहाँ कोई दल समाज में आभिजात्य की संजीवनी इन संस्थाओं के बारे में नीति नहीं बनाता। बहुत हुआ तो चर्चा यहाँ तक हो लेती है कि मंत्रियों और प्रतिपक्षी नेताओं के बच्चे भी "पब्लिक" स्कूलों में पढ़ रहे हैं।

शिक्षा में अँग्रेज़ी तथा पत्रकारिता की भूमिका

पत्रकारिता के क्षेत्र में थोड़ी बेहतर स्थिति का आभास मिलता है। अँग्रेज़ी के अखबार शिक्षा सम्बन्धी घटनाओं पर नियमित रूप से कुछ न कुछ छापते हैं। इसमें से थोड़ी-बहुत सामग्री ऐसी होती है जिसे पढ़कर कुछ सोचने का अवसर पाठकों को मिल सकता है। पर अँग्रेज़ी पढ़ने वालों का दायरा बहुत सीमित है, और लगभग उतना ही सीमित दायरा है भारत में अँग्रेज़ी के माध्यम से बहस चलाने लायक विषयों का। अँग्रेज़ी में शिक्षा पर लिखने वालों में ऐसे व्यक्ति बिरले हैं जो शैक्षिक अवसर की समानता और शोषण की प्रक्रिया में शिक्षा की भूमिका जैसे विवादास्पद विषय उठाएँ।

पर हिन्दी पत्रों की दशा इससे ज़्यादा निराशाजनक है। सिलसिलेवार जानकारी देकर उसका विवेचन करने वाली पत्रिकाएँ वैसे ही बहुत कम हैं। जो हैं वे भी शिक्षा की बात नियमित रूप से नहीं उठातीं। शिक्षा पर विशेष रूप से लिखने वाले लेखकों की भी कमी है। आम अखबारों और पत्रिकाओं में छपने वाला लेखन शिक्षा के नाम पर कुछ पिटी-पिटाई बातें दोहरा देता है। पश्चिम बंगाल में प्राथमिक स्कूलों से अँग्रेज़ी के हटाए जाने की खबर पर तफसील से किसी अखबार ने विचार नहीं किया। *सामयिक वार्ता* जैसी एक राजनीतिक पत्रिका ने अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में इस घटना को ढाई इंच की जगह दी थी। इतनी कम जगह में इस पत्रिका ने फूँक-फूँककर ऐसे शब्द लिखे जिनसे किसी को यह सन्देह न हो जाए कि एक समाजवादी पत्रिका एक मार्क्सवादी सरकार के कदम पर हर्षित है, पर साथ ही यह भरोसा बना रहे कि पत्रिका अँग्रेज़ी के हटाए जाने की समर्थक है।

स्कूली शिक्षा में दिलचस्पी रखने और दखल देने की आशा मध्यम वर्ग के अभिभावकों से की जा सकती थी। अभिभावकों का यह वर्ग स्कूल के दैनिक कार्यक्रम और प्राचार्य तथा अध्यापकों की मुस्तैदी के प्रति कुछ कारगर चिन्ता दिखा सकता था। लेकिन अब यह सीमित भूमिका भी इस

वर्ग द्वारा नहीं निभाई जा रही है। इसका एक बड़ा कारण यह है कि मध्यम वर्ग के बच्चे तेज़ी से सरकारी या स्थानीय निगम के स्कूलों की जगह निजी स्कूलों में प्रवेश ले रहे हैं। प्राथमिक स्तर पर इस प्रक्रिया की रफ्तार इतनी तेज़ है कि महानगरों के मध्यमवर्गीय इलाकों में स्थित कई स्कूलों में दस फीसदी बच्चे भी ऐसे नहीं मिलते जिनके माता-पिता पढ़े-लिखे हों और मध्यमवर्गीय धन्धों में लगे हों। ये माता-पिता पड़ोस का स्कूल छोड़कर मीलों दूर स्थित प्राइवेट स्कूलों में अपने बच्चों को पढ़ाते हैं, और इस पढ़ाई के लिए अच्छा-खासा खर्चा करते हैं। छोटे शहरों और कस्बों में भी प्राइवेट स्कूलों का तेज़ी से विकास हो रहा है। शिक्षा आयोग (1964-66) ने "पड़ोस के स्कूल" की जो बात एक लक्ष्य के रूप में सामने रखी थी, देश उससे ठीक विपरीत दिशा में गया है। परिणामस्वरूप मध्यमवर्गीय अभिभावकों का जो थोड़ा-बहुत अंकुश स्कूली व्यवस्था पर रहता था, वह भी अब नहीं रहा। सरकारी स्कूलों में उन अभिभावकों के बच्चे पढ़ रहे हैं जो शोषित और सामाजिक रूप से कमज़ोर हैं। वे अधिकारी, प्राचार्य या अध्यापक, किसी के मनमाने व्यवहार से लड़ने की स्थिति में नहीं हैं।

इस तरह समूची परिस्थिति यह है कि बच्चों की स्कूली शिक्षा में समाज की भागीदारी के जितने महत्वपूर्ण रास्ते हो सकते हैं उनमें से किसी का भी उपयोग नहीं हो रहा है। इस परिस्थिति में हस्तक्षेप ज़रूरी है। हस्तक्षेप करने के लिए इस बात में विश्वास होना चाहिए कि शिक्षा में कुछ सोचना और करना राजनीतिक सक्रियता की परिधि में शामिल है, और यह दृष्टिकोण चाहिए कि आर्थिक शोषण पर टिकी सामाजिक संरचना में परिवर्तन करने के लिए शिक्षा की चिन्ता ज़रूरी है। हस्तक्षेप का स्वरूप क्या हो, यह बात विभिन्न प्रान्तीय और केन्द्रीय परिस्थितियों में और काम करने के माध्यमों के अनुकूल अलग-अलग ढंग से तय की जानी चाहिए। जो भी स्वरूप चुना जाए, उसमें अभिभावकों और अध्यापकों से सम्पर्क की गहरी ज़रूरत रहेगी। इसके लिए न केवल मध्यम वर्ग के शिक्षित माता-पिताओं से, जो अपने बच्चों को सार्वजनिक स्कूलों से निकाल रहे हैं, बल्कि समाज के उत्पीड़ित वर्ग के माता-पिताओं से भी सम्पर्क स्थापित करना होगा। इस सम्पर्क का लाभ अन्ततः शिक्षा में या शिक्षा तक ही सीमित नहीं रहेगा।

लक्ष्मीशंकर आजकल कहाँ हैं?

लक्ष्मीशंकर आजकल कहाँ हैं?

अपने देश का क्या कहना! गिजुभाई की *दिवास्वप्न* शीर्षक पुस्तक गुजराती में 1932 में छपी थी। *दिवास्वप्न* यदि जर्मन में लिखी गई होती तो हिन्दी समेत भारत की कई अन्य भाषाओं में कब की पहुँच गई होती। और कुछ नहीं तो अँग्रेज़ी के ज़रिए देश भर के शिक्षाविदों द्वारा पढ़ ली गई होती और लाखों प्रशिक्षणार्थियों को पढ़ा दी गई होती। गिजुभाई का नाम पता नहीं कितने प्रशिक्षण संस्थानों में लिया जाता है। मेरे यहाँ उन्हें कोई नहीं जानता। कौतूहलवश मैंने कुछ अन्य संस्थानों का बी. एड. पाठ्यक्रम देखा, वहाँ भी गिजुभाई के पहचाने जाने का कोई प्रमाण नहीं मिला। मैं स्वयं *नया शिक्षक* का एक अंक और भारतलाल पाठक की नई पुस्तक पढ़ने के पूर्व गिजुभाई के काम से अपरिचित था। एक बार *शिविरा* में उनकी इसी पुस्तक का ज़िक्र अवश्य पढ़ा था। अब *दिवास्वप्न* पढ़ने के बाद ठीक वैसी ही प्रेरणा और ताज़गी महसूस कर रहा हूँ जैसी पन्द्रह वर्ष पूर्व जॉन होल्ट की *हाउ चिल्ड्रन फेल* पढ़कर महसूस हुई थी या जैसी कुछ वर्ष बाद सिविल मार्शल और सिल्विया एश्टन वार्नर को पढ़कर हुई। यानी एक भारतीय की प्रेरणा की अपेक्षा एक अमरीकी, ब्रितानी और न्यूज़ीलैण्ड की महिला की प्रेरणा बाज़ार और पुस्तकालयों में ज़्यादा आसानी से उपलब्ध थी। इसमें क्या कोई नई बात है? अपने लोगों की योग्यता को दुरदुराना, विदेशी प्रतिभाओं को देखकर पहले सहम जाना, फिर चिपक जाना, प्रमाण मिलने पर भी भारतीय प्रतिभा को घटिया मानना – ये भारतीय चरित्र की जानी-मानी विशेषताएँ हैं।

ऐसे राष्ट्रीय चरित्र के रहते यदि *दिवास्वप्न* और भारतलाल पाठक के शोध निबन्ध ("गिजुभाई का शिक्षा में योगदान") का हिन्दी में अनुवाद हो गया है तो इसे एक अप्रत्याशित घटना मानना चाहिए और इसके लिए अनुवादक श्री रामनरेश सोनी और *नया शिक्षक* व *शिविरा* के सम्पादकीय परिवार

का आभारी होना चाहिए। इस किस्म के औपचारिक वाक्य लिखने का अभ्यास मुझे नहीं है, पर इतना मैं पक्के तौर पर जानता हूँ कि यदि बीकानेर से यह पहल न हुई होती तो हिन्दी अभी और पचास वर्ष गिजुभाई से अपरिचित बनी रहती। ताज़ा शैक्षिक सोच का अकाल और घटिया, पिटे-पिटाए सोच की सड़ान्ध बर्दाश्त करने की हिन्दी में खूब क्षमता है। स्वयं अपने देश की अन्य भाषाओं में हुआ काम समझने की इच्छा हिन्दी समाज में नहीं रह गई है – "जो है ठीक है" का रवैया शिक्षा विभागों में प्रचलित है। इस मनोवृत्ति के माहौल में गिजुभाई के सम्बन्ध में अचानक इतनी सामग्री का छप जाना एक तरह का एशियाड है। इस सामग्री को पढ़कर मन में कुछ घण्टों का उछाह पैदा होता है। यह आशा करने को जी चाहता है कि ये दोनों पुस्तकें हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और बिहार के लाखों प्राथमिक शिक्षकों को मुफ्त बाँटने का निर्णय किसी ऊँचे सरकारी स्तर पर लिया जा सकेगा। एक क्षण को मन बेरंग, धूल-धूसरित, प्राथमिक शालाओं की उदासी को भेदकर उल्लास और जिज्ञासा की झटक में बह जाता है और उस समय का चित्र बनाने लग जाता है जब देश के लाखों स्कूलों में कैद पड़ी प्रतिभा बह निकलेगी, बड़ी-बड़ी संस्थाओं और शोध परिषदों का अहंकार टूट जाएगा और एक साधारण स्कूल के बच्चे पेड़-पत्तों और कविता का आनन्द उठा सकेंगे। पाठकगण, घबराएँ नहीं, यह एक दिवास्वप्न भर है।

मैं स्वयं फिलहाल किसी प्राथमिक शाला में नहीं पढ़ाता, लेकिन मित्रों के माध्यम से उस मनोविज्ञान को थोड़ा-बहुत समझ सका हूँ जिसकी गिरफ्त में एक आम प्राथमिक शिक्षक जीता है। उसके जीवन में नवाचार के क्या मायने हैं? उसके लिए प्रयोग का दर्शन निरर्थक है, विशेषज्ञों की सलाहें उतनी ही बेमानी हैं जितनी उनकी खीझ। बच्चों को पढ़ाना उसके लिए एक सरकारी ज़िम्मेदारी है। यह एक ऐसी ज़िम्मेदारी है जिसे स्वयं सरकार गम्भीरता से नहीं लेती। प्रयोग करने और शाला का जीवन संजीदा बनाने की चर्चा प्राथमिक शिक्षक अपनी ट्रेनिंग के दौरान सुन अवश्य चुका होता है, पर इस चर्चा में उसकी आस्था उतनी ही सतही रहती है जितनी उसके प्रशिक्षकों की है। शिक्षा की नौकरशाही के शिखर से लेकर गाँव के प्राइमरी स्कूल की तलहटी तक कोई बन्दा मुश्किल से ही मिलेगा जो नए प्रयासों के ज़रिए शिक्षा में परिवर्तन लाने को उत्सुक हो। परिवर्तन की बात सभी करते हैं पर केवल इन्तज़ार के सन्दर्भ में। परिवर्तन लाने की छोटी कोशिश खुद करने, दूसरों की छोटी-छोटी कोशिशों को सम्मान व

सहयोग देने और ऐसी कोशिशों में निहित जोखिम का एकजुट होकर सामना करने को तैयार लोग शिक्षा विभाग में नहीं हैं। ऐसे ही एक आदमी की कल्पना गिजुभाई ने पचास वर्ष पहले लक्ष्मीशंकर नाम के अध्यापक के रूप में की थी। वह अपने साथियों के मखौल का पात्र बनता है, बच्चों के माता-पिता का असहयोग सहता है और चुपचाप एक साधारण स्कूल की परिस्थिति में एक नई शिक्षण पद्धति और बच्चों के प्रति एक नई दृष्टि का विकास करने में जुटा रहता है।

लक्ष्मीशंकर जैसे चरित्र की रचना करने वाला आदमी स्वयं कैसा रहा होगा? भारतलाल पाठक ने अपनी पुस्तक में इस प्रश्न का उत्तर मुहैया कराया है। पर उनकी किताब पढ़कर प्यास बुझती नहीं, और भड़कती है। पुस्तक के अन्त में शिक्षा और बाल साहित्य में गिजुभाई की रचनाओं की सूची देखकर इच्छा होती है कि गुजराती सीखकर इन सबको पढ़ूँ। गुजरात में आज गिजुभाई के कितने अनुयायी हैं? क्या वहाँ के शिक्षा विभाग ने गिजुभाई की परम्परा को अक्षुण्ण रखा है? क्या वहाँ बाल केन्द्रित नज़रिए से पाठ्यक्रम बनाया जाता है? इन सब प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए गुजरात जाने की इच्छा होती है। ज़्यादा दूर नहीं, आबू के उस तरफ गुजरात है। मध्यप्रदेश का झाबुआ ज़िला गुजरात से लगा है। तो फिर प्रश्न उठता है कि गुजरात की सीमा के इस पार प्राथमिक शाला सूनी-सूनी क्यों है? कहीं उस पार भी तो ऐसा ही नहीं है?

भारतलाल पाठक की किताब से उभरने वाला गिजुभाई का व्यक्तित्व मकारेंको की याद दिलाता है। शिक्षा की चालू पद्धति से होने वाला व्यक्तित्व का क्षय गिजुभाई और मकारेंको दोनों ने बच्चों के व्यक्तिगत नुकसान के रूप में नहीं, समाज और राष्ट्र के नुकसान के रूप में देखा था। गिजुभाई की शैक्षिक महत्वाकांक्षा टैगोर की तरह किसी कोने में एक आदर्श संस्था खड़ी कर देने की नहीं थी, बल्कि भारतीय परिस्थितियों में सार्वजनिक उपयोग के लिए एक बाल केन्द्रित पद्धति का विकास करने की थी। इस काम के लिए उन्होंने मॉन्टेसरी से प्रेरणा और जानकारी पाई, भारत की प्राचीन कहानी परम्परा, लोक गीतों और लोक कलाओं को प्राथमिक स्कूल की चहारदीवारी में स्थापित किया और भाषा की प्राचीन शिक्षण पद्धति की रूढ़ि को तोड़ा। गिजुभाई स्कूल को समाज का लघु संस्करण नहीं, समाज को स्कूल मानते थे। उनकी पद्धति में घर, स्कूल और पड़ोस की दीवारों का यही उपयोग था कि बच्चे उन्हें फान्दना सीखें। स्कूल को एक आश्रम मानने की भारतीय परिपाटी को तोड़ते हुए उन्होंने

एक वानर सेना बनाई जिसका लक्ष्य स्वाधीनता के संघर्ष में बच्चों को प्रवेश दिलाना था। गिजुभाई स्वयं स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेने के लिए शिक्षा की ओर मुड़े थे। उन्हें लगा था कि बच्चों की शिक्षा को मानवीय बनाकर वे गाँधीजी के सपनों को पूरा करेंगे। गिजुभाई और गाँधी के सपने अपनी जगह हैं और हमारे प्राथमिक स्कूलों का अमानवीय यथार्थ अपनी जगह। भारतलाल पाठक की पुस्तक और *दिवास्वप्न* का हिन्दी अनुवाद हरेक प्राथमिक शिक्षक के हाथ में पहुँचे तो शायद कल सुबह कुछ सैंकड़ा शिक्षक यह सोचना शुरू करेंगे कि वे लक्ष्मीशंकर की तरह अपने शिक्षण में एक नई शुरुआत क्यों नहीं कर सकते।

सरस्वती जहाँ पाठ्य पुस्तकों में कैद है

सरस्वती जहाँ पाठ्य पुस्तकों में कैद है

शायद ही कोई साल ऐसा जाता हो जब नए स्कूली सत्र की शुरुआत के साथ पाठ्य पुस्तकों को लेकर हाय-तौबा न मचती हो। इस साल का शोर अब सुनाई पड़ने लगा है, और हम यह मानकर चल सकते हैं कि शोर बारिश के अन्त के साथ समाप्त होगा। इस सालाना शोर का स्रोत यह मान्यता है कि पाठ्य पुस्तकें न हों तो पढ़ाई नहीं हो सकती। यानी बच्चों को शिक्षा देना मुख्यतः पाठ्य पुस्तकों की व्याख्या करना है। इस मान्यता में थोड़ा और गहरे उतरें तो हम पाएँगे कि मूल विचार दरअसल यह है कि जो कुछ पाठ्य पुस्तक में लिखा है, वही शिक्षक के लिए महत्वपूर्ण है और वही छात्रों के लिए भी। विद्या, ज्ञान और व्यक्तित्व के विकास के दायरे जितने मर्ज़ी खुले हुआ करें, कक्षा में अध्यापक की वाणी तो उन्हीं स्वर्णाक्षरों की मीमांसा करेगी जो पाठ्य पुस्तक के शासन द्वारा स्वीकृत पन्नों में छपे हैं और परीक्षा के लिए निश्चित पाठ्यक्रम की तंग तालिका में समाए हैं।

इस विचारधारा की तह में जाने के लिए हमें अपनी शिक्षा व्यवस्था के उस दौर पर दृष्टि डालनी होगी जब उसका आधारभूत ढाँचा विकसित हुआ था। हमें इस लोकप्रिय मान्यता से अपने को मुक्त भी करना होगा कि हमारी शिक्षा पद्धति ब्रितानी पद्धति पर ढली है। दरअसल भारत की शिक्षा पद्धति और ब्रिटेन की शिक्षा पद्धति में कोई बड़ी समानता न आज है, न कभी पहले थी। इतना अवश्य है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था का ढाँचा ब्रितानी साम्राज्यवादी प्रशासन ने तैयार किया। पाठ्य पुस्तकों के ज़रिए अध्यापक और छात्रों पर नियंत्रण उस ढाँचे का महत्वपूर्ण अंग था, और यह अंग शेष ढाँचे की तरह आज भी तन्दुरुस्ती से जीवित है।

पाठ्य पुस्तकों को पाठ्यक्रम का पर्याय मानने की प्रवृत्ति की बुनियाद हमें उपनिवेशवाद की इस मूल अवधारणा में मिलती है कि गुलाम बना हुआ

समाज ज्ञान का उपभोक्ता तो हो सकता है, उत्पादक नहीं हो सकता। इस अवधारणा के बल पर उपनिवेशवादी शिक्षा व्यवस्था – जिसे हम आज तक भोग रहे हैं – ज्ञान की पुनर्रचना करने का अधिकार बच्चे से छीन लेती है। बच्चा या छात्र एक निरुपाय उपभोक्ता बनकर रह जाता है। सारा "ज़रूरी" माना गया ज्ञान उसे "मान्यता प्राप्त" पाठ्य पुस्तकों की शक्ल में परोस दिया जाता है। छात्र से कहा जाता है कि वह इसी ज्ञान का सेवन करे, उसे कण्ठस्थ कर ले। अध्यापक की ज़िम्मेदारी इसी रूप में परिभाषित की जाती है कि वह ज्ञान की "स्वीकृत" खुराक छात्र के गले उतारे। कितनी खुराक गले उतरी, इसी बात की जाँच करने के लिए परीक्षा ली जाती है। इस समूची प्रक्रिया में यह गुंजाइश कहीं नहीं है कि छात्र और शिक्षक प्रकृति व समाज के अवलोकन और दैनिक जीवन के अनुभवों के परीक्षण से ज्ञान पैदा करें और विरासत से प्राप्त ज्ञान की समीक्षा करें।

उपनिवेशवाद का प्रधान लक्ष्य था आर्थिक शोषण, और इस लक्ष्य को पूरा करते रहने के लिए सांस्कृतिक रूप से भारतीय समाज को कुचलना ज़रूरी था। शिक्षा की प्रधान भूमिका इसी सन्दर्भ में थी और इसे वह आज तक निभा रही है। भारतीय समाज की दासता के औज़ार के रूप में शिक्षा का इस्तेमाल करने के लिए उपनिवेशवादी शासन ने स्कूली अध्यापक की स्वायत्तता छीन ली। उपनिवेश बनने के पूर्व भारत के अनेक भागों में ग्रामीण पाठशालाओं का काफी विस्तृत जाल था। इन पाठशालाओं का पाठ्यक्रम भले काफी सीमित रहता था और बच्चों को दबाने की परिपाटी उस वक्त भी थी, पर अध्यापक उस समय तक स्वतंत्र व्यक्ति हुआ करता था। वह क्या पढ़ाए, कैसे पढ़ाए, यह फैसला कैसे करे कि किसी बच्चे ने पढ़ाई गई बात अच्छी तरह सीख ली है या नहीं – इन सभी प्रश्नों पर अध्यापक अपनी समझ और परम्परा की मदद लेकर स्वतंत्र निर्णय लेता था। नौकरशाही का दबदबा उस पर नहीं था। गाँव के सामान्य लोगों की दृष्टि में बच्चों को पढ़ाने वाला शिक्षक एक स्वायत्त बौद्धिक व्यक्ति था।

यह स्थिति उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक एकदम बदल गई। तब तक अँग्रेज़ी राज शिक्षा व्यवस्था का नियंत्रण करने के लिए एक समूचा नौकरशाही तंत्र विकसित कर चुका था। इस तंत्र की सभ्यता में अध्यापक की स्वायत्तता जैसा कोई मूल्य नहीं था। अफसरों को यह ताकत दी गई थी कि वे पाठ्यक्रम निर्धारित करें और पाठ्यक्रमों पर शासन की स्वीकृति की मुहर लगाएँ। बहुत समय तक स्कूली पाठ्य पुस्तकें लिखने वालों में अधिकांश अँग्रेज़ प्रशासक व मिशनरी रहे। धीरे-धीरे यह स्थिति बदली, पर नौकरशाही की भूमिका और ताकत में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अध्यापक को अफसरों और इंस्पेक्टरों का गुलाम बना दिया गया। इस गुलामी का एक अंग यह था कि अध्यापक नौकरशाही द्वारा लागू की गई पाठ्य पुस्तक से ही पढ़ाएगा। बच्चों को देने योग्य ज्ञान का चयन और उसकी पुनर्रचना अध्यापक के कार्य क्षेत्र से बाहर कर दिए गए। अध्यापक की बौद्धिक आज़ादी और गरिमा पर यह एक बहुत गहरी चोट थी, पर इसका कोई जवाब स्कूली अध्यापक न दे सका। उसकी तनख्वाह शिक्षा विभाग के क्षुद्रतम अधिकारी से कई गुना नीचे रखी गई, और विभागीय मामलों में उसे निरीक्षकों और निदेशकों की अनुकम्पा का मोहताज बना दिया गया। विभागीय कार्यवाही, तबादले और मुअत्तली के डर के तले जीने वाला स्कूली अध्यापक एक पंगु, हीन मनुष्य बन गया। आज्ञापालन और चापलूसी उसके सम्बल बन गए और दी गई पाठ्य सामग्री यानी पाठ्य पुस्तक से पढ़ा देना उसका एकमात्र कर्त्तव्य बन गया।

पाठ्य पुस्तक को ही पाठ्यक्रम मान लेने की प्रवृत्ति को इम्तिहान की प्रणाली ने आगे बढ़ाया। उपनिवेशवादी प्रशासन ने इम्तिहान लेने की व्यवस्था इस तरह की बनाई कि अध्यापक स्वयं अपने छात्रों का परीक्षण न कर सके। महत्वपूर्ण परीक्षाओं (जैसे मैट्रिक और बी.ए.) के लिए रहस्य और नाटकीयता की रस्में रच दी गईं। पर्चा बनाने वाले की गोपनीयता, परीक्षा के समय निरीक्षकों की ताकत और मूल्यांकन की गोपनीयता जैसी रस्मों ने अध्यापक की स्वायत्तता और विश्वसनीयता के नष्ट होने में बची हुई कसर पूरी कर दी। अध्यापक का काम यही रह गया कि वह परीक्षा के लिए छात्रों को तैयार करे। इस काम को पूरा करने का सबसे सुरक्षित तरीका यह था कि अध्यापक पाठ्य पुस्तक को बार-बार पढ़ाए – तब तक जब तक उसके सारे महत्वपूर्ण अंश और अभ्यास छात्रों को याद न हो जाएँ।

परीक्षा के लिए पाठ्य पुस्तक के निश्चित अंश तय कर देने की परम्परा "उन्नीसवीं" सदी के पूर्वार्ध की समाप्ति तक पड़ चुकी थी। परीक्षा में प्रश्न किस किस्म के होंगे और उनके सफल उत्तर किस तरह के होंगे, इन बातों के मानक भी तब तक स्थिर हो चुके थे। ज्ञान के जो विषय या खण्ड लिखित, निबन्धाकार उत्तरों की शक्ल नहीं ले सकते थे, वे पाठ्यक्रम में शामिल नहीं किए गए। "जो कुछ परीक्षोपयोगी है, वही ज्ञान है" – यह मूल्य इसी परिपाटी से जनमा और आज तक हमारी शैक्षिक संस्कृति का मूलाधार है। इस मूल्य के रहते व्यावसायिक कौशल व कलाएँ शिक्षा

संस्थानों में महत्व नहीं पा सकीं। विज्ञान को भी पाठ्यक्रम में प्रवेश पाने के लिए लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ी, और अन्ततः जब वह प्रवेश पा सका, उसकी पढ़ाई और परीक्षा ठीक उस तरह से रखी गई जैसी अँग्रेज़ी या इतिहास की होती थी। उसका प्रायोगिक पक्ष कमज़ोर बना रहा क्योंकि वह परीक्षा और पाठ्य पुस्तक के गठबन्धन में खलल पैदा करता था।

इस गठबन्धन का एक आशय यह था कि बच्चे के परिवेश से सम्बन्ध रखने वाली जानकारियाँ और गतिविधियाँ स्कूल के लिए अप्रासंगिक बन गईं। जो कुछ स्कूल के आसपास घट रहा है, वह बच्चे की निगाह में कितना ही सार्थक और महत्वपूर्ण हो, स्कूल के भीतर उसका कोई महत्व नहीं था। वहाँ तो निबन्धात्मक शैली में परोसा जाने योग्य परीक्षापयोगी ज्ञान ही पाठ्य पुस्तक की मदद से पढ़ाया जा सकता था। स्थानीयता और आंचलिकता स्कूल से काट दी गई। इस घटना ने पाठ्यक्रम में ऐसी कोई चीज़ न रहने दी जिससे बच्चा भावनात्मक लगाव रख सकता हो या जिसे वह अपने कौतूहल की ताकत से स्वयं समझना चाहता हो। भाषा, भूगोल, इतिहास, विज्ञान – सभी की पढ़ाई का ढर्रा कुछ इस तरह से ढला कि शिक्षित होने का अर्थ अपने परिवेश के प्रति अन्धा हो जाना हो गया। कक्षा की संस्कृति शिक्षक पर यह दबाव डालने लगी कि वह बच्चे का ध्यान अपने आसपास की जीवन्त चीज़ों से जबरन हटाकर पाठ्य पुस्तक के पन्नों में रमाए। मिट्टी, कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे, आकाश, सितारे, लोक संगीत व आख्यान, आजीविका से जुड़ी तमाम जानकारियाँ व कौशल, स्थानीय समाज के विधान और बिम्ब, उसका अतीत – ये सब स्कूल से बाहर कर दिए गए।

आज़ादी के आन्दोलन में उपनिवेशवादी शिक्षा के खिलाफ कई आवाज़ें उठीं, पर पाठ्य पुस्तक के दबदबे और पाठ्यक्रम की निर्जीवता को सिर्फ दो बड़े समीक्षकों ने संघर्ष का मुद्दा बनाया। ये दो समीक्षक थे रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गाँधी। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने स्कूल में शिक्षकों को बच्चे की निगाह से देखना सिखाया और उन्हें पाठ्य पुस्तकों से दूर रहकर अपनी बुद्धि से पाठ्य सामग्री इकट्ठा करने की ट्रेनिंग दी। उधर गाँधी जी ने *हरिजन* के एक लेख (9 सितम्बर 1939) में लिखा: "यदि पाठ्य पुस्तकों को ही शिक्षा का वाहन मान लिया जाए तो शिक्षक की जीवित वाणी की कीमत बहुत घट जाएगी। पाठ्य पुस्तकों से पढ़ाने वाला शिक्षक अपने छात्रों को मौलिकता नहीं सिखा सकता। वह स्वयं पाठ्य पुस्तकों का

गुलाम हो जाता है और मौलिक होने का कोई अवसर नहीं ढूँढ पाता। इसीलिए ऐसा लगता है कि पाठ्य पुस्तकें जितनी कम होंगी, अध्यापक और छात्रों का उतना ही भला होगा।"

गाँधी द्वारा प्रस्तावित बुनियादी शिक्षा योजना के चलते एक नई हवा देश में बही। यह हवा पाठ्य पुस्तकों के धन्धे के लिए बड़ी कष्टप्रद थी। जिन तमाम सामाजिक व राजनीतिक शक्तियों ने बुनियादी शिक्षा की जड़ें खोदीं, उनमें पाठ्य पुस्तक व्यवसाय के मालिक शामिल थे। अन्ततः बुनियादी शिक्षा पराजित हुई। अपने हाथ से काम करने और अपनी आँख से देखने की क्रान्तिकारी शिक्षा दफना दी गई और पाठ्य पुस्तकों की फिर बन आई। साठ के दशक में पाठ्य पुस्तकों के निर्माण और प्रकाशन में सरकारी प्रभुत्व बढ़ा। इससे निजी व्यावसायिकों की ताकत पर कुछ असर पड़ा, पर ज्ञान की औपनिवेशिक अवधारणा जस की तस रही। जब तक इस अवधारणा को चुनौती नहीं दी जाती और अध्यापक को कक्षा का पाठ्यक्रम व पाठ्य सामग्री तय करने का प्रशिक्षण और अधिकार नहीं दिया जाता, तब तक हमारी शिक्षा पद्धति ज्ञान की उपनिवेशवादी अवधारणा में जकड़ी रहेगी।

यह एक बहुत बड़ी चुनौती है जिसे निभाने के लिए समाज और शिक्षक को अपनी स्वाधीनता का संघर्ष लम्बे समय तक चलाए रखना होगा। पर इस बीच कुछ छोटे-मोटे सुधार तो सरकार कर ही सकती है। इनमें से एक सुधार पाठ्य पुस्तकों की खरीद से जुड़ा है। यदि यह सुधार हो जाए तो हर वर्ष पाठ्य पुस्तकें समय से उपलब्ध न होने की समस्या एक हद तक दूर हो जाएगी। दुनिया में ऐसे देश अब बहुत नहीं बचे हैं जहाँ बच्चे स्वयं पाठ्य पुस्तकें खरीदते हों। रूस, अमरीका और इंग्लैण्ड जैसे धनी देशों में भी बच्चे नहीं, स्कूल पाठ्य पुस्तकें खरीदते हैं और ये पाठ्य पुस्तकें कई वर्ष तक उपलब्ध रहती हैं। ठीक है कि इन देशों में पाठ्य पुस्तकों का इस्तेमाल हमारे देश की तरह बच्चों को स्वीकृत ज्ञान की निश्चित खुराक नाप-नापकर पिलाने के लिए नहीं होता। पर इन देशों से हम इतना तो सीख ही सकते हैं कि प्रतिवर्ष हर बच्चे से पाठ्य पुस्तकें खरीदवाने की खर्चीली और अपव्ययी व्यवस्था बन्द कर दें। यदि स्कूल स्वयं पाठ्य पुस्तकें खरीदकर रखने लगें तो कागज़ की बर्बादी रुकने से पर्यावरण पर दबाव कुछ कम होगा। पाठ्य पुस्तकों से घिरी शिक्षा प्रणाली का एक विनाशकारी पहलू कुछ कमज़ोर पड़ेगा।

रवीन्द्रनाथ टैगोर और आज की शिक्षा

रवीन्द्रनाथ टैगोर और आज की शिक्षा

बच्चों की शिक्षा के क्षेत्र में भारत ने अपना रूसो रवीन्द्रनाथ टैगोर में पाया। रूसो की तरह टैगोर को सामाजिक कर्म की प्रेरणा बच्चे में मिली – खास तौर से शिक्षा से उत्पीड़ित बच्चे में। रूसो से एक कदम आगे जाकर टैगोर ने अपनी एक संस्था खोल डाली। इस संस्था के ज़रिए वे मुक्ति देने वाली शिक्षा की एक मिसाल रखना चाहते थे। पर रूसो के विपरीत टैगोर अपने समाज की व्यापक शिक्षा व्यवस्था को प्रभावित नहीं कर सके। शायद इस तुलना का वक्त अभी नहीं आया है क्योंकि रूसो का असर भी उनकी मृत्यु के सौ साल बाद पड़ा, जब उनके विचार सही ढंग से समझे गए।

एक व्यापक राष्ट्रीय सन्दर्भ में टैगोर के विचारों की व्याख्या अभी शुरू भी नहीं हुई है। टैगोर के प्रशंसक शायद अभी तक यह मानते हैं कि टैगोर की शिक्षा पद्धति एक विशिष्ट या "आदर्श" स्कूल में ही लागू की जा सकती है, सामान्य स्कूलों में नहीं। जिस भद्रलोक की सांस्कृतिक पूँजी में टैगोर ने अच्छी-खासी बढ़ोत्तरी की, वह शिक्षा व्यवस्था में आई जड़ता के प्रति चिन्तित नहीं है क्योंकि उसने अपनी सन्तान के लिए अलग स्कूल बना लिए हैं। टैगोर के जन्म का 125वाँ साल, जो अब समाप्त होने जा रहा है, संयोग से नई शिक्षा नीति का साल भी था। बच्चों की शिक्षा के सन्दर्भ में आज की सांस्कृतिक अवस्था को क्या हम रवीन्द्रनाथ टैगोर की दृष्टि से देखने की चुनौती स्वीकार कर सकते हैं?

शिक्षा के क्षेत्र में जिस लक्ष्य को टैगोर अपने लिए सर्वोपरि मानते थे वह था बच्चे की मातृभाषा को शिक्षा की भाषा के रूप में स्थापित कराना। वे चाहते थे कि मातृभाषा सिर्फ आरम्भिक दर्जों में ही नहीं, उच्चतम कक्षाओं तक शिक्षा का माध्यम बने। उनकी पक्की मान्यता थी कि अँग्रेज़ी

कभी भारतीय प्रतिभा और सर्जना की पूरी सम्भावनाओं को उजागर नहीं कर सकती। उनके इस दृष्टिकोण के लिए समर्थन की कमी कभी नहीं रही, लेकिन अँग्रेज़ी के स्थान पर मातृभाषा को समूची शिक्षा का माध्यम बनाने के सारे प्रयास आज विफल हो गए लगते हैं। भारतीय भाषाओं की तरक्की के लिए सरकारी सहयोग भी अब एक बुदबुदाहट बनकर रह गया है। हाल में घोषित नई शिक्षा नीति कहती है कि बीस साल पहले कोठारी आयोग द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोण अब भी मान्य है। दूसरे शब्दों में, त्रिभाषा फार्मूला, जो कहीं सफलतापूर्वक लागू नहीं हो सका, सरकारी नीति बना रहेगा।

भारतीय भाषाओं को उच्च शिक्षा और अनुसन्धान का माध्यम बनाने के लिए कोई नए प्रयास आने वाले वर्षों में किए जाएँगे, ऐसी आशा के लिए कोई आधार इस समय नहीं है। इस लक्ष्य से हम कितनी दूर भटक गए हैं, इसका एक प्रमाण अवश्य हाल में सामने आया जब नई दिल्ली के इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलॉजी के एक छात्र ने अपना शोध ग्रन्थ हिन्दी में लिखने की ज़िद पकड़ ली। छात्र के अपने विभाग में उसकी यह इच्छा तब जाकर मंज़ूर की गई जब यह मुद्दा संसद और राष्ट्रीय अखबारों में उठा और हर जगह छात्र को ज़ोरदार समर्थन मिला। अपना शोध अपनी भाषा में प्रस्तुत करने का हक जब इतना शोर मचाने के बाद मिलता है तो अपनी भाषा में सारे व्याख्यान सुनने और अपने विषय की गहन पुस्तकें पढ़ने का अधिकार पाने के लिए शायद भूकम्प लाना होगा।

टैगोर के लिए मातृभाषा जीवन शैली का हिस्सा थी, केवल शिक्षा का माध्यम नहीं। शिक्षा में अँग्रेज़ी का विरोध उन्होंने सिर्फ इसलिए नहीं किया कि अँग्रेज़ी विदेशी भाषा थी, बल्कि इसलिए भी किया क्योंकि वह सम्पन्न और निर्धन बच्चों के बीच दीवार खड़ी करती थी। टैगोर मानते थे कि ऐसी दीवारों के रहते भारतीय संस्कृति फल-फूल नहीं सकती। उन्होंने लिखा था: "जापान के विश्वविद्यालयों ने सारा आधुनिक ज्ञान जापानी भाषा में उपलब्ध कराके देश की शिक्षा व्यवस्था को यथार्थपरक और मजबूत बनाया है। कारण यह है कि 'शिक्षा' का अर्थ जापान में सारे समाज की शिक्षा से लिया जाता है, तथाकथित अभिजात वर्ग के संकुचित दायरे की शिक्षा से नहीं।"

टैगोर के समय में भारत में सार्वजनिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। कहने को ऐसी व्यवस्था आज है पर उसकी वास्तविक पहुँच और क्षमता काफी सीमित है, वरना हमारी दो-तिहाई आबादी निरक्षर न होती। दूसरी

ओर सामान्य स्कूलों और "पब्लिक" स्कूलों के बीच का फासला चालीस साल पहले के मुकाबले कहीं ज़्यादा बढ़ गया है। "पब्लिक" स्कूल की संज्ञा आज ब्रितानी राज के सिर्फ 47 स्कूलों को नहीं दी जाती, उन तमाम स्कूलों को दी जाती है जो फीस लेते हैं, औपनिवेशिक नमूने का पालन करते हैं और उस पर मौके के अनुसार "भारतीय मूल्यों" और "वैज्ञानिक दृष्टिकोण" का मुलम्मा चढ़ाते रहते हैं। ये सभी स्कूल बच्चों के बीच दीवारें खड़ी करते हैं। सामान्य और इलीट स्कूल की शिक्षा दरअसल समाज में बढ़ रहे वर्ग भेद का एक लक्षण भर है। देश के कई हिस्सों में सरकारी स्कूल अब केवल गरीबों के लिए उपयुक्त माना जाता है। मध्यम वर्ग ने अपनी सन्तान की शिक्षा के लिए अलग इन्तज़ाम कर लिया है।

सामाजिक मेलजोल की दृष्टि से यह एक दुःखद परिस्थिति है। सामाजिक मेलजोल टैगोर के विचार में सांस्कृतिक विकास की बुनियादी शर्त था और उसका अभाव ही उनकी समझ में भारत की सांस्कृतिक सड़न का मुख्य कारण था। टैगोर की यह समझ आज एकदम भुला दी गई लगती है। शिक्षा संस्थाओं में जाति और धर्म की संकीर्णता का सगर्व प्रदर्शन हो रहा है। सच्चाई यह है कि जाति और धर्म शैक्षिक व्यावसायिकता के साधन बन गए हैं और राज्य ने इस तरफ से आँखें मूँद ली हैं। रवीन्द्रनाथ ने शिक्षा के ज़रिए जिस सार्वभौमिक मनीषा के विकास की कल्पना की थी, आज हम उसकी एकदम उलट स्थिति में पहुँच गए हैं।

कवि के रूप में टैगोर की सबसे भावाकुल अभिव्यक्ति भारतीय समाज में बच्चे की उत्पीड़ित अवस्था में प्रेरित हुई। सामाजिक कर्म के लिए ऊर्जा भी उनको इसी स्रोत से मिली। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य की स्वच्छन्दता की जो कल्पना रूसो ने की थी, टैगोर ने उसके अनुकूल एक शैक्षिक कार्यक्रम रचने की कोशिश की। भारत में बाल केन्द्रित शिक्षा की अवधारणा टैगोर के अलावा गिजुभाई और कृष्णमूर्ति जैसे एकाकी शिक्षकों के सहारे ही अस्तित्व में आ सकी। पर छोटे बच्चे के लिए स्नेह और चिन्ता की जो माँग इन महान शिक्षकों ने उठाई, उसे देश की शिक्षा व्यवस्था ने अनसुना कर दिया। बच्चे को उत्पीड़ित करने वाली संरचनाएँ बढ़ती गईं और जैसे-जैसे स्थिति बिगड़ती गई, वैसे-वैसे बच्चों के उत्पीड़न के नए-नए वकील और दलाल सामने आते गए। देश में करोड़ों बच्चे मज़दूरी करते हैं और करोड़ों कुपोषित हैं। प्रतिवर्ष देश में होने वाली कुल मौतों में से लगभग आधी मौतें चार साल से छोटे शिशुओं की होती हैं।

ऐसे समाज में जहाँ इतनी ऊँची बाल-मृत्यु दर से लोग चौंकते न हों, बाल केन्द्रित शिक्षा की परवाह किसे है?

मज़दूरी करने वाले बच्चों के लिए उत्पीड़न एक भौतिक यथार्थ है, पर स्कूल जाने वाले बच्चे भी लगातार एक अलग तरह का उत्पीड़न सहते हैं। विडम्बना यह है कि बच्चों के उत्पीड़न के मामले में अग्रणी वे स्कूल हैं जिन्हें "अच्छा" या एलीट स्कूल गिना जाता है। ये स्कूल तीन साल के बच्चों की परीक्षा लेते हैं और उन्हें "फेल" घोषित करते हैं। बड़े शहरों के नामी स्कूलों की प्रवेश परीक्षा यदि स्वयं टैगोर या आइंस्टाइन ने दी होती तो वे निश्चय ही फेल हो जाते क्योंकि उनकी प्रतिभा बचपन में काफी देर से प्रकट हुई थी।

अभिजात स्कूल इस बात में संकोच या शर्म नहीं, गर्व महसूस करते हैं कि वे एक खास तरह के बच्चे ही लेते हैं। विकास की जो जड़ धारणा उन्होंने बना रखी है, ये बच्चे उसी के आधार पर चुने जाते हैं और उसी के मुताबिक आगे बढ़ते हैं। क्या आश्चर्य कि इन स्कूलों से निकलने वाले छात्र अधिकारी, मैनेजर या व्यवसायी ही बनते हैं, कवि, कलाकार या आविष्कर्ता नहीं बन पाते? प्राइवेट स्कूलों ने प्रवेश के लिए परीक्षा की जो भद्दी और खरतनाक परम्परा डाली थी, उसका पालन अब सरकारी स्कूलों में भी शुरू हो रहा है। नई शिक्षा नीति के अन्तर्गत खोले जा रहे नवोदय विद्यालय हर ज़िले में हज़ारों बच्चों की परीक्षा लेकर भर्ती के योग्य 80 बच्चों को चुनेंगे।

प्रवेश और परीक्षा की रस्में ही नहीं, हमारे स्कूलों का समूचा पाठ्यक्रम और अध्यापन के तरीके बच्चे को उत्पीड़ित करते हैं। टैगोर ने अपने स्कूल में पारम्परिक पाठ्यक्रम और अध्यापन विधियों के लिए कोई जगह नहीं रखी थी। वे बच्चों को आज़ादी और खाली समय देने के पक्षधर थे जिससे वे स्वयं अपनी सम्भावनाओं और अपने आसपास की दुनिया की, विशेषकर प्रकृति की, खोज कर सकें। ज़िन्दगी की भौतिक समस्याओं और ज्ञान के नए रूपों के प्रति भारतीय लोगों की उदासीनता देखकर टैगोर बहुत चिन्तित थे। अपने स्कूल के अध्यापकों से उनकी यह अपेक्षा रहती थी कि वे "पाठ्य पुस्तकों से हटकर प्रत्यक्ष अनुभवों का आनन्द लेने वाले लोग" बनें। वे मानते थे कि जब अध्यापक खोजबीन में आनन्द लेंगे तभी बच्चे ऐसा कर सकेंगे। आज काम कर रहे अध्यापक टैगोर की इस शर्त को किस तरह पूरा कर सकते हैं? एक तरफ जड़ पाठ्यक्रम और

दूसरी तरफ बेखबर अधिकारी का दबाव सहते अध्यापक बाल केन्द्रित शिक्षण का सपना भी नहीं देख सकते।

टैगोर यदि आज होते तो नई नीति के दस्तावेज में प्रदर्शित वैचारिक घटियापन से चौंक उठते। रूढ़ियों से हटने के साहस का अभाव, प्राथमिकताओं की अस्पष्टता, और शब्दों के आडम्बर (जैसे "कम्प्यूटर साक्षरता", "मूल्योन्मुखी शिक्षा") से उन्हें गहरी चोट पहुँचती। सम्भवतः वे नई नीति को अनदेखा कर देते और एन.सी.ई.आर.टी. के बनाए राष्ट्रीय पाठ्यक्रम पर कोई ध्यान न देते। दूसरी तरफ एन.सी.ई.आर.टी. भी उन्हें अनदेखा कर देती क्योंकि एक संवेदनशील अध्यापक और तकनीकशाहों के बीच पटरी नहीं बैठ सकती। ब्रिटिश राज में टैगोर के पास यही एक विकल्प था कि एक किनारे बैठकर अपना स्कूल चलाएँ। आज भी उनके सामने यही एक विकल्प होता।

अध्यापक सीख दें, या सिखाएँ?

अध्यापक सीख दें, या सिखाएँ?

अनेक आदर्शवादी उद्देश्य एक अरसे से अध्यापकों पर थोपे जाते रहे हैं, पर इन उद्देश्यों को पाने के लिए ज़रूरी परिस्थितियाँ तैयार करने की अवहेलना की जाती रही है। इस अन्तर्विरोध के कारण भारतीय समाज में शिक्षा और शिक्षक दोनों की साख घटी है। अध्यापक को ऐसे लक्ष्यों की प्राप्ति में विफलता का दोषी ठहराया जाता है जिन्हें पा सकना मौजूदा परिस्थितियों में असम्भव था। इस दोषारोपण के कारण अध्यापक में हीनता बढ़ी है। आज जब राष्ट्रीय शिक्षक आयोग उद्देश्यों और मूल्यों की बात उठा रहा है तो उसे उन परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए जिसमें देश का औसत स्कूली शिक्षक काम कर रहा है।

जिन उद्देश्यों की चर्चा बहुत ज़्यादा की जाती है और जिनका ज़िक्र आयोग द्वारा अभी तक आयोजित बहसों में बार-बार हुआ है, उनमें से एक यह है कि शिक्षक हर बच्चे को उसकी क्षमताओं के अधिकतम विकास में मदद दे। यह उद्देश्य नया नहीं है। प्रशिक्षण संस्थाओं द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली पाठ्य पुस्तकों, आयोगों और कमेटियों द्वारा तैयार की गई रपटों, और शिक्षक दिवस जैसे अवसरों पर दिए जाने वाले सन्देशों में यह उद्देश्य वेद वाक्य की तरह दोहराया जाता रहा है। यदि इस उद्देश्य को शिक्षक आयोग भी अपनी रपट में शामिल करता है तो उसे इन बातों पर गौर करना चाहिए:

1. देश के कितने स्कूलों में अध्यापक-छात्र अनुपात ऐसा है कि एक अध्यापक अपने प्रत्येक छात्र की ज़रूरतों पर ध्यान दे सके? सप्ताह में बत्तीस से पैंतीस घण्टियाँ पढ़ाने वाला अध्यापक क्या बच्चों की व्यक्तिगत क्षमताओं और आवश्यकताओं पर ध्यान दे सकता है?
2. सभी बच्चों की क्षमताओं के विकास में मदद देने के लिए स्कूल में

जो सामग्री होनी चाहिए वह देश के कितने फीसदी स्कूलों में पहुँचाई जा सकी है?

3. प्रशिक्षण संस्थाओं का पाठ्यक्रम क्या भावी अध्यापकों को ऐसी ज्ञान सामग्री और दक्षताएँ दे रहा है जिनका उपयोग वे हरेक बच्चे की समस्याओं को बच्चे के दृष्टिकोण से समझने के लिए कर सकें?

स्कूल की भौतिक परिस्थितियाँ एक हद तक इस अध्याय के अन्त में दिए गए आँकड़ों के सहारे समझी जा सकती हैं। पर ये परिस्थितियाँ किस प्रकार अध्यापक के दैनन्दिन जीवन को प्रभावित करती हैं, यह समझने के लिए आँकड़े काफी नहीं हैं। अध्यापक पर छात्र संख्या के बोझ के मामले में शहरी स्कूलों और सामग्री के अभाव के मामले में ग्रामीण स्कूलों की हालत आम तौर पर भयानक है। यहाँ दिए गए आँकड़े, जो राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् के चौथे अखिल भारतीय सर्वेक्षण की रपट पर आधारित हैं, दिखाते हैं कि पक्की इमारत, टाट-पट्टी, ब्लैकबोर्ड, पेशाबघर और पीने के पानी जैसी बुनियादी सुविधाएँ भी प्राथमिक स्तर के छात्रों को दुर्लभ हैं।

खेल सामग्री, खेल के मैदान और पुस्तकालय जैसी सुविधाओं का और भी ज़्यादा अभाव है। जिस स्कूल में न ब्लैकबोर्ड हैं, न पुस्तकें और न बच्चों के बैठने, पानी पीने और पेशाब करने की जगह, वहाँ अभिरूचियों को बढ़ावा देने तथा निजी स्वास्थ्य, सफाई और अनुशासन जैसी चीज़ों में नागरिकता का प्रशिक्षण जैसी बातों का क्या मतलब है? बुनियादी सुविधाएँ मुहैया कराने के बाद ही सरकार इस किस्म के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अध्यापक को ज़िम्मेदार ठहरा सकती है।

अध्यापक के पेशे का एक उद्देश्य एकदम उपेक्षित रहा है और शिक्षक आयोग की बहसों में भी उसे शामिल नहीं किया गया है। यह उद्देश्य पाठ्यक्रम बनाने और उसे लगातार सुधारते रहने का है। पाठ्यक्रम बनाने के काम को अध्यापक से दूर रखने की परम्परा काफी मज़बूत हो चुकी है। शिक्षा के नीतिकार और अधिकारी मानते हैं कि अध्यापक इस योग्य नहीं है कि उसे पाठ्यक्रम बनाने या उसमें परिवर्तन करने जैसा काम दिया जाए। पाठ्यक्रम ऊँचे शोध संस्थानों और अधिकारियों के कार्यालयों में बनाया जाता है और उसे एक आदेश की तरह स्कूलों में भेज दिया जाता है। कोई आश्चर्य नहीं कि पाठ्यक्रम बनाने के विकेन्द्रीकरण की बात हमारे यहाँ सोची भी नहीं जाती। यह सीधी-सी बात भारतीय शिक्षाविदों और नौकरशाहों की समझ में नहीं आती कि अध्यापकों की हिस्सेदारी से

उपजा पाठ्यक्रम ही बच्चे के जीवन तथा परिवेश को बारीकी और ईमानदारी से प्रतिबिम्बित कर सकता है और ऐसे पाठ्यक्रम के बगैर स्कूल की शिक्षा बच्चे के लिए एक आकर्षक अनुभव नहीं बन सकती। इसलिए पाठ्यक्रम बनाने और लगातार सुधारने में हिस्सा लेना अध्यापकीय पेशे में शामिल किया जाना चाहिए।

एक और उद्देश्य, जिसे पहले मान्यता प्राप्त थी और अब नहीं है, सामाजिक परिवर्तन में अध्यापक के योगदान का है। इन दिनों चल रही एक चर्चा यह है कि शिक्षक बच्चों को समाज के पारम्परिक मूल्य सीखने में मदद दे। इस उद्देश्य को यदि इसी रूप में स्वीकारा गया और पारम्परिक मूल्य सिखाने के साथ-साथ उनकी समीक्षा करने और नए मूल्य गढ़ना सीखने की क्षमता विकसित करने की बात अध्यापन व्यवसाय के उद्देश्यों में न रखी गई तो साम्प्रदायिक पुनरुत्थानवाद का पहले से मौजूद खतरा बढ़ सकता है। भारत में दार्शनिक सोच और सामाजिक व्यवहार की अनेक परम्पराएँ रही हैं। उनमें से किन परम्पराओं को शैक्षिक मूल्यों के लिए महत्वपूर्ण समझा जाएगा? शिक्षा मंत्रालय द्वारा मूल्यमुखी अध्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रम बनाने के लिए नियुक्त कमेटी की रपट इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देती। इस रपट में सामाजिक सम्बन्धों और आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों का विश्लेषण करने का कोई प्रयास नहीं है। राष्ट्रवाद के नाम पर रहस्यमय आध्यात्मिक और धार्मिक प्रश्नों तथा उनके आदर्शवादी समाधानों को शिक्षकों के प्रशिक्षण कार्यक्रम में घुसाने की सिफारिश की गई है। यदि यह सिफारिश मान ली जाती है तो बचपन और उसके सामाजिक सन्दर्भ को वैज्ञानिक ढंग से परखने और प्रशिक्षण का आधार बनाने की नवजात परम्परा को भारी चोट पहुँचेगी।

नैतिक मूल्य ऋषि-मुनियों या दार्शनिकों के दिमाग से नहीं, सामाजिक सम्बन्धों की बुनावट से जन्म लेते हैं और इस बुनावट के सन्दर्भ में ही मूल्यों की समीक्षा की जा सकती है। मूल्यों की शिक्षा की बहस में आजकल सहिष्णुता, समग्रता, सद्भाव और त्याग की ज़ोरों पर चर्चा है; विज्ञान और अध्यात्म को जोड़ने की बात उठाई जा रही है। इस किस्म की पण्डिताऊ बातें शिक्षा नीति को दिशा नहीं दे सकतीं। शिक्षा के सामाजिक सन्दर्भ में ही मूल्यों की सार्थक चर्चा शुरू की जा सकती है। भारतीय समाज के ताने-बाने पर नज़र डालें तो आर्थिक विषमता और उत्पीड़न जैसी दो बड़ी चुनौतियाँ दिखाई देंगी। हरिजनों, आदिवासियों, ग्रामीण और शहरी मज़दूरों, औरतों और गरीब बच्चों का शोषण देश के हरेक

हिस्से में हो रहा है। इस सर्वव्यापी शोषण के प्रति शिक्षा बच्चों में कैसी दृष्टि विकसित करना चाहती है? पारम्परिक मूल्यों की दुहाई देकर विषमता और उत्पीड़न पर विजय पाई नहीं जा सकती। ज़रूरत समीक्षादायी चेतना और क्षमताओं की है।

धर्मग्रन्थों, पौराणिक आख्यानों और दार्शनिक चर्चाओं से कुछ मूल्य उठाकर शिक्षकों के दिमाग में बैठाने की बात हास्यास्पद है। आवश्यकता इस बात की है कि सभी स्तरों पर शिक्षा का पाठ्यक्रम आज के समाज की वास्तविक परिस्थितियों के प्रति संजीदा बने और पाठ्यक्रम सामग्री बच्चे को केन्द्र में रखकर तैयार की जाए। यह बात भाषा से लेकर विज्ञान तक सभी विषयों पर लागू होती है। अभी तक की परम्परा स्कूली पाठ्यक्रम में समाज की परिस्थितियों को नज़रअन्दाज़ करने, उन्हें छिपाने की रही है। भाषा, धर्म, सम्प्रदाय, जाति और वर्ग जैसी बुनियादी इकाइयों की जानकारी स्कूल का पाठ्यक्रम आदर्शवाद और शक्तिशाली वर्गों के आग्रहों की लीपापोती के बगैर बच्चों के सामने नहीं आने देता। ऐसी परिपाटी के रहते "सहिष्णुता" या "सद्भाव" का मूल्य "पढ़ाकर" साम्प्रदायिकता पर विजय नहीं पाई जा सकती।

देश के स्वाधीनता संग्राम में प्रतिबिम्बित मूल्यों को उजागर करने की चर्चा भी इन दिनों ज़ोरों पर है। इन मूल्यों को पहचानना कठिन नहीं है। पाठ्यपुस्तकीय शैली की लीक पर चलकर उन्हें अध्यापकों और बच्चों की चेतना के करीब पहुँचाना कठिन है। यदि पाठ्य पुस्तक की भाषा बच्चों की अपनी भाषा और उनके जीवन के पास नहीं आती, और पाठ्य सामग्री का लेखक यदि बच्चों की दृष्टि से दुनिया को देखना नहीं सीखता, तो महान से महान विषयवस्तु में छिपे मूल्य स्कूली संवाद की कृत्रिम भाषा में दफन होते रहेंगे।

देश के प्राइमरी स्कूलों की दशा

ऐसे स्कूल जिनके पास पक्की इमारत नहीं है: 53 प्रतिशत
ऐसे स्कूल जिनमें ब्लैक बोर्ड नहीं है: 39.7 प्रतिशत
ऐसे स्कूल जिनमें पीने के पानी की व्यवस्था नहीं है: 59.4 प्रतिशत
ऐसे स्कूल जिनमें पेशाबघर नहीं है: 85.1 प्रतिशत
ऐसे स्कूल जिनमें पुस्तकालय नहीं है: 70.5 प्रतिशत
ऐसे स्कूल जिनके पास खेल सामग्री नहीं है: 84.5 प्रतिशत
ऐसे स्कूल जिनके पास खेल की जगह नहीं है: 53.4 प्रतिशत

अशोक की कहानी

अशोक की कहानी

अशोक पढ़ना चाहता था। उसके परिवार में कभी कोई स्कूल नहीं गया था। पिता ज़मीन के छोटे-से टुकड़े पर खेती करते थे, अनपढ़ थे। अशोक ने कई बार ज़िद की, माँ को मनाया, और अन्त में पिता मान गए कि उसे पास के कस्बे के प्राइमरी स्कूल में भरती करा देंगे।

पहले दर्ज़े में हिन्दी के अन्तर्गत अध्यापिका ने वर्णमाला सिखाई। एक-एक अक्षर की आवाज़ हफ्तों रटाई; अक्षरों की आकृति बनाना सिखाया। जिन बच्चों को दिक्कत आती थी, उनका हाथ पकड़कर सिखाया। स्कूल में एक छोटा-सा ब्लैकबोर्ड था – खूब घिसा हुआ, चाक के बारीक कणों से इस कदर ढँका हुआ कि लिखाई देखने के लिए सिर की नसों का सारा ज़ोर पुतली पर केन्द्रित करना होता था। यह ब्लैकबोर्ड अगस्त से अक्तूबर तक वर्णमाला की आकृतियों से ढँका रहा। बच्चे एक-एक अक्षर की आकृति बीसियों बार उतारते। इस तरह अन्त में अशोक ने सारी हिन्दी वर्णमाला सीख ली।

अब अध्यापिका ने पाठ्य पुस्तक की तरफ ध्यान दिया, जिसमें हर अक्षर के पास एक शब्द लिखा था और एक चित्र बना था। "क" के पास लिखा था "कबूतर"। अशोक शुरू से जानता था कि "क" का मतलब होता है कबूतर। इसलिए जब बहनजी ने अक्षर जोड़कर कबूतर पढ़ना सिखाना चाहा तो अशोक बहुत खुश हुआ, पर उसे यह नहीं समझ में आया कि दरअसल बहनजी के लिए "क", "बू", "त" और "र" का कुल योग "कबूतर" है। अशोक के दृष्टिकोण से "क" ही "कबूतर" था। बहनजी के पास इतना समय नहीं था कि अशोक का दृष्टिकोण समझें। "अशोक का भी कोई दृष्टिकोण है" – यह बात वे जानती थीं या नहीं, मैं नहीं कह सकता। बहरहाल उन्होंने सोचा कि अशोक "क" के साथ लिखे शब्द को देखकर "कबूतर" कह रहा है तो वह पढ़ना सीखने लगा है।

इसी तरह अशोक ने बाकी सब अक्षरों के साथ लिखे शब्द पढ़ना सीख लिया। अक्षरों की आकृतियाँ स्लेट और कापी पर उतारना तो वह पहले ही सीख चुका था। पहले दर्ज़े का अन्त होते-होते वह अपनी प्रगति से काफी खुश था। जब वह दूसरी में आया और कक्षा में उससे किताब पढ़ने को कहा गया तो वह इस तरह बोला: "कबूतर का क, मटर का म, लंगूर का ल, क-म-ल।" हर बार उसे इस तरह पढ़ते देखकर अध्यापिका कुछ नाराज़ हुईं। अशोक के हर प्रयास के बाद अध्यापिका उससे कहतीं, "दूसरे बच्चों को ध्यान से सुनो। उनकी तरह पढ़ो।" अशोक दूसरे बच्चों को ध्यान से सुनता, पर यह समझने में असमर्थ रहता कि वह कहाँ गलती कर रहा है। उसे लगता कि दूसरे ठीक उसकी तरह पढ़ रहे हैं। वही शब्द वे पढ़कर सुना रहे हैं। फिर बहनजी उससे क्यों नाराज़ हैं? सौभाग्यवश बहनजी और भी कुछ बच्चों पर खीझती थीं, इसलिए अशोक अपने को एकदम अकेला नहीं पाता था। किसी तरह उसने दूसरी कक्षा के सारे दिन काट लिए। धीरे-धीरे उसकी "क" से "कबूतर" कहने की आदत भी कम हो गई। अब वह इस तरह पढ़ता था:

ग पे उ की मात्रा गु
ल पे आ की मात्रा ला
ब
क पे आ की मात्रा का
फ पे बड़े उ की मात्रा फू
ल
गु-ला-ब का फू-ल

बहनजी उसे कभी-कभार ही पढ़ने को कहतीं, अक्सर उनके पास की टाट-पट्टी पर बैठे बच्चे ही पूरा पाठ पढ़ देते। पर अशोक इस बात से उदास नहीं था। उसने एक पूरी कविता याद कर ली थी। दूसरी कक्षा के अन्तिम दिनों में जब किताब दोहराते वक्त इस कविता को पढ़ने का नम्बर आया तो अशोक ने बगैर सही पेज खोले पूरी कविता पढ़कर सुना दी। बहनजी उससे गुस्सा थीं कि उसने सही पेज क्यों नहीं खोला। अशोक खुश था कि वह बिना किताब देखे पढ़ने लगा है। उसके और बहनजी के दृष्टिकोणों का विरोध तीखा होता जा रहा था।

आखिरकार तीसरी कक्षा शुरू हुई। अशोक के गाँव के कई बच्चे स्कूल आना छोड़ चुके थे। उस पर भी दबाव पड़ा, पर वह अड़ा रहा। वह चाहता था कि जल्दी-जल्दी स्कूल खत्म करके पैसे कमाए। बहनजी कई बार

कक्षा में बता चुकी थीं कि जो बच्चे स्कूल में आगे बढ़ते रहेंगे वे खूब बड़े आदमी बनेंगे और पैसे कमाएँगे।

पर तीसरी कक्षा की शुरुआत से ही विघ्न पड़ने लगे। "भूगोल" नाम का एक नया विषय शुरू हुआ। अशोक को भूगोल की किताब में कुछ पल्ले नहीं पड़ा। पहले पेज पर लिखा था, "हमारा ज़िला ऊबड़-खाबड़ और पथरीला है।... यह कर्क रेखा से कुछ ऊपर स्थित है।... इसकी भू-रचना पठारी प्रकार की है।" कक्षा के कई बच्चे फर्राटे से पढ़ना सीख चुके थे। वे खड़े होकर पढ़ते, फिर कापी में उतारते। अशोक धीरे-धीरे पढ़ने की कोशिश करता तो बहनजी अधीर हो उठतीं। यही हालत एक और नए विषय "विज्ञान" की घण्टी में आई। महीने भर में बहनजी अशोक से इतना परेशान हो गई कि उन्होंने उससे कुछ भी कहना छोड़ दिया। उनकी अधीरता और नाराज़गी का धागा, जिससे अशोक अभी तक बँधा नहीं था, उदासीनता में बदल गया। अशोक को लगा कि बहनजी को अब उससे कोई मतलब नहीं है। दीवाली की छुट्टी के बाद वह वापिस स्कूल नहीं गया।

कुछ वर्ष बाद ज़िले में एक सर्वेक्षण हुआ। प्रान्तीय शैक्षिक अनुसन्धान परिषद की ओर से दो सर्वेक्षक लम्बे-लम्बे फार्म लेकर आए। सर्वेक्षण का उद्देश्य यह पता लगाना था कि प्राथमिक शिक्षा में "ड्राप आउट" की दर इतनी ऊँची क्यों है। सर्वेक्षकों ने कई गाँव चुने और वहाँ जाकर माता-पिताओं से इंटरव्यू लिए। इस तरह स्कूल छोड़ने वाले कई सैंकड़ा बच्चों के आँकड़े उनके शैक्षिक अनुसन्धान की पकड़ में आ गए।

शिक्षा का कोई सर्वेक्षण हो रहा है, यह मुझे मालूम था। जब मुझे सर्वेक्षण का ठीक-ठाक उद्देश्य मालूम हुआ तो मैं आलस त्यागकर अपना कौतूहल लिए सर्वेक्षकों से मिलने जा पहुँचा। उनका काम पूरा हो चुका था और वे जाने की जल्दी में थे। मैंने आग्रह किया कि वे मुझे अशोक की "डेटा-शीट" दिखा दें। मैं यह जानने को बेहद उत्सुक था कि देश के आँकड़ों में अशोक का "केस" किस तरह प्रस्तुत होगा। सैकड़ों बच्चों के पिताओं की "डेटा-शीटों" में से एक को ढूँढ निकालने में सर्वेक्षक बन्धु आनाकानी कर रहे थे। मैंने बातचीत के दौरान अपनी हैसियत और डिग्री का ज़िक्र किया तो वे तैयार हो गए। ढूँढते-ढूँढते जब अशोक के पिता की "डेटा-शीट" मिली तो उसे पढ़कर यह साफ निष्कर्ष निकलता था कि अशोक ने अपने परिवार की आर्थिक स्थिति के सन्दर्भ में अपने पिता का हाथ बँटाने के लिए पढ़ना छोड़ा। सर्वेक्षण के समूचे विश्लेषण में अशोक की

गणना "परिवार की आर्थिक स्थिति" से प्रभावित "ड्राप आऊट" बच्चों में की गई। अशोक एक ग्रामीण बाल श्रमिक घोषित हुआ।

मेरी आँखों में आँसू देखकर सर्वेक्षक बन्धु कुछ घबरा गए। वे बोले, "क्या यह बच्चा आपके रिश्ते में आता है?" मैंने कहा, "नहीं, पर मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ। मुझे लगता है आप उसका केस ठीक से समझ नहीं पाए हैं।" सर्वेक्षक ने कहा, "अब एक केस को कहाँ तक समझा जाए?" फिर बात कुछ बदलकर वह बोला, "आप तो दिल्ली में रहते हैं। नई शिक्षा नीति कब से लागू होने वाली है?"

उदास लड़कों का राज

उदास लड़कों का राज

जो लोग आज़ादी के समय वयस्क हो चुके थे, वे आज के पन्द्रह से बीस साल के लड़कों का बर्ताव देखकर अफसोस प्रकट करते हैं और कहते हैं कि यह कैसा ज़माना आ गया। जो लोग आज़ादी के पहले या दूसरे दशक में वयस्क हुए, यानी पैंतालीस साल के लोग, वे लड़कों को देखकर डर और आशंका से भर उठते हैं। लड़कों से बात करने की इच्छा न उनके पास है जो अफसोस प्रकट करते हैं और न ही उनके पास जो डरे हुए हैं। सड़क, रेल या बगीचे जैसी किसी सार्वजनिक जगह पर लड़कों का जत्था देखकर प्रौढ़ और वयोवृद्ध लोगों के मन में आता है कि किसी तरह बचकर निकल जाएँ और सकुशल घर पहुँचें। विचित्र किस्म की आवाज़ों का शोर पैदा करते हुए लड़कों को सामने देखकर लोग अपने मुँह दूसरी तरफ कर लेते हैं। यह डर उनके दिलों में कौंधकर बैठ जाता है कि कब दो-चार लड़के उनकी ओर बढ़ जाएँ और गाली दें या हमला बोल दें। कॉलेज के विद्यार्थियों को देखकर दिमाग के किसी कोने में चाकू तन जाता है, भले ही ऐसे लड़कों की कुल तादाद बहुत ज़्यादा नहीं होगी जो पैण्ट की गहरी जेब में हथियार डालकर चलते हों।

शहरी लड़कों की संस्कृति का नमूना देखने के लिए उत्तर भारत के किसी भी इलाके में सफर किया जा सकता है, पर सघन अनुभव पाने के लिए सबसे उपयुक्त क्षेत्र उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के पश्चिमी व उत्तरी इलाके हैं। लड़के पाँच-दस की टोलियों में घूमते हैं। टोली के व्यवहार का एक खास लक्षण यह है कि वह एक क्षण में निर्णय लेती है। जैसे, यदि एक बस करीब आ रही हो तो सम्भव है कि टोली एकाएक बस को रोकने का फैसला करे और बस के भीतर खड़े होकर या छत पर बैठकर आगे क्या करना है, इस बात का फैसला करे। कभी-कभी टोली के सदस्य अपने बीच से किसी एक के पीछे पड़ जाते हैं, और यह भी सम्भव है कि

वे बस के किसी यात्री या दो-तीन यात्रियों के पीछे पड़ जाएँ। प्रायः वे किसी स्त्री या पुरुष के बारे में अपशब्द कहेंगे और चेहरे के भावों से लगातार कुछ मिनटों तक यह चुनौती देंगे कि आओ, हमसे लड़ो। वे बस की छत पर हुए तो मुमकिन है कोई सामान उठाकर फेंक दें, और रेल के डिब्बे में हुए तो मुमकिन है कि डिब्बे की पिछली दीवार पर लगा पाइप अलग करके गाड़ी रोक दें और उतर जाएँ।

इन लड़कों को गुण्डा नहीं कहा जा सकता और ऐसे लड़के भी कम ही होंगे जिनके पेशेवर गुण्डों से सीधे सम्बन्ध हों। लेकिन नौकरीशुदा वयस्क लोग जब लड़कों की बात करते हैं तो "आवारागर्दी" और "गुण्डागर्दी" जैसे शब्दों के सहारे ही करते हैं। आज से कोई बीस-बाईस वर्ष पहले राजकपूर की एक फ़िल्म के ज़रिए "आवारा" शब्द ने जो थोड़ा-बहुत छायावादी आकर्षण हासिल कर लिया था, वह अब इस शब्द में नहीं रहा। बेरोज़गारी बढ़ने से आवारागर्दी अब एक शौक नहीं लाचारी है। पर आवारों के प्रति अब कोई हमदर्दी या चिन्ता नहीं दिखती। नफरत और डर दिखता है। ऐसी घटनाएँ अब हरेक कस्बे में हो चुकी हैं जिनसे लोगों का लड़कों से डर मज़बूत होता चला जाता है। मज़ाक में चाकू चलाकर मार दिए गए साथी या अँधेरे में उड़ा दी गई लड़की की कहानियाँ लोग सुन चुके हैं और पढ़ते तो खैर लगातार रहते हैं।

ऐसे वयस्क आज मुश्किल से मिलेंगे जो लड़कों के चेहरों पर निगाह टिकाकर उनसे बात करते हों। हाई स्कूल और कॉलेज के अध्यापक ने काफ़ी समय पहले छात्रों के चेहरे देखना बन्द कर दिया था। कुछ अध्यापक ऐसे हैं जो लड़कों का चेहरा देखने की हिम्मत रखते हैं, पर सिर्फ तब देखते हैं जब लड़कों को डराना हो। ज़्यादातर अध्यापक हवा, दीवार, छत या फिर सारी कक्षा के एक सामूहिक अमूर्त चेहरे की ओर देखकर भाषण देते या किताब बाँचते हैं। हरेक लड़के का अपना एक चेहरा है जिसमें उसकी दो खास आँखें हैं, यह एहसास कराने वाले प्रौढ़ आज के लड़कों को मुश्किल से मिलते हैं।

घर का हाल स्कूल या कालेज से बहुत भिन्न नहीं है। सन्तान के भविष्य और विशेषकर रोज़गार की चिन्ता में खोए शिक्षित माता-पिता बचपन से ही लड़कों को भविष्य से डराकर मेहनत करने और सबसे आगे रहने के लिए ठेलना शुरू कर देते हैं। नौ-दस वर्ष की आयु तक बच्चों और मध्यमवर्गीय माता-पिताओं में यह अनुबन्ध जीवित रह जाता है कि बच्चे

देर-सबेर बड़ों के सपने पूरे करेंगे। इस अनुबन्ध को जीवित रखने में स्कूल की – खासतौर से प्राइवेट स्कूल की – संस्कृति बहुत मदद देती है। पढ़ाई, खेल, शौक, बर्ताव, पोशाक आदि सभी मामलों में निरन्तर प्रतियोगिता करवाते रहकर और माता-पिता को बच्चे की प्रगति से अवगत रखकर प्राइवेट स्कूल (जिनमें आज मध्यमवर्गीय बच्चों का एक बड़ा हिस्सा पढ़ रहा है) बचपन भर यह आशा जीवित रखता है कि बच्चा किसी न किसी क्षेत्र में आगे बढ़ रहा है। स्कूल के अन्तिम वर्षों में यह आशा बच्चे और उसके माँ-बाप दोनों में धुँधलाने लगती है क्योंकि तब तक जिन्हें आगे बढ़ना था वे बढ़ चुके होते हैं। सरकारी स्कूल में यह थोड़ा पहले साफ हो जाता है।

पन्द्रह-सोलह वर्ष के लड़के के मन में अपने या समाज के प्रति कोई भ्रम नहीं रह जाता, सिर्फ एक गुस्सा रह जाता है कि क्यों उसे अब तक अपनी ज़िन्दगी और आसपास की सचाई से अपरिचित रखा गया। गुस्सा ही उसके माता-पिता में भी रह जाता है – इस बात का गुस्सा कि इतना खर्च करने पर भी उनका लड़का आगे नहीं बढ़ पाया। गुस्से की अभिव्यक्ति का अधिकार बड़ों को मिला है, और वे इस अधिकार का प्रयोग नाना स्थितियों में – कभी अफसोस दिखाकर तो कभी अपराध-बोध जगाकर – कर लेते हैं। लड़के के पास सिर्फ यही चारा रहता है कि अपने जैसों के साथ निकलकर सड़क पर या बस में अपनी उपस्थिति का आभास कराए।

इलाहाबाद आती हुई रेल में गंगा के पुल के पहले कोई दस लड़के प्रथम श्रेणी के एक डिब्बे में घुस गए। वे गलियारे में तेज़ आवाज़ें (जो साफ दिखाती थीं कि भाषा का संस्कार उन्हें नहीं मिला) पैदा करते हुए और दरवाज़ों को धक्का देते हुए घूमने लगे। यात्री अपने सीनों को बाँहों में बाँधकर बैठ गए। एक बोला, "पुल भर निकल जाए, फिर कोई बात नहीं।" एक और बोला, "इण्टर कॉलेज के पास सब उतर जाएँगे।" लड़के ज़ोर-ज़ोर से दरवाज़ों पर दस्तक देते रहे, पर किसी ने उनकी चुनौती नहीं स्वीकारी। खीझकर या शायद अपनी योजना के अनुसार पुल पार होने के बाद उन्होंने गाड़ी रोकी और उतर गए। फिर अचानक एक आदमी पर पिल पड़े। पास की गुमटी पर चाय पीता एक पुलिस वाला दौड़ा तो सब भाग गए। डिब्बे में बैठे एक सज्जन बोले, "इन्हें गोली मार देनी चाहिए।"

साक्षरता की जड़ों में पानी या मट्ठा?

साक्षरता की जड़ों में पानी या मट्ठा?

प्राइमरी शिक्षा यदि और कुछ न करे, सिर्फ पढ़ना और लिखना सिखा दे, तो यही बहुत बड़ी चीज़ होगी। ऐसे भारत की कल्पना करके, जिसमें एक-तिहाई की जगह दो-तिहाई लोग साक्षर होंगे, किसी का भी सिर घूम जाएगा। उस भविष्य में साहित्य की पहुँच कितनी बढ़ जाएगी, छपी चीज़ों की चर्चा कितनी व्यापक होगी, यह सोचकर ही दिल उछलने लगता है। पर क्या वह दिन कभी आएगा? क्या और तमाम उद्देश्यों को कुछ दिन के लिए छोड़कर सरकार साक्षरता पर अपना ध्यान केन्द्रित करेगी?

दिक्कत वहीं आती है जहाँ "और उद्देश्यों" को कुछ समय के लिए टालने की बात उठती है। नाना प्रकार की माँगें शिक्षा की नीति और योजना बनाने वालों का ध्यान अपनी तरफ खींचती रहती हैं। माहौल ऐसा है कि किसी माँग या दबाव को टाला नहीं जाता, न ही किसी माँग की पड़ताल की जाती है। कुछ माँगें फैशन बन जाती हैं, और कुछ प्राथमिकताओं से ध्यान हटाने का काम करती हैं। "कम्प्यूटर साक्षरता" पहले किस्म की माँग है, तो "मूल्यों की शिक्षा" दूसरे किस्म की। एक ऐसे देश में जहाँ संसार के सबसे ज़्यादा निरक्षर रहते हों, "कम्प्यूटर साक्षरता" ज़्यादा से ज़्यादा एक चुटकुला हो सकती है। पर वह चुटकुला नहीं, शिक्षा की एक गम्भीर योजना बन गई है।

इस बात के तीन कारण हो सकते हैं कि बच्चों को साक्षर बना देना कुछ समय के लिए प्राइमरी शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य क्यों नहीं मान लिया जाता। पहला कारण शायद यही हो सकता है कि योजना बनाने वालों में ध्यान केन्द्रित करने की क्षमता नहीं है। सीमित साधनों के बावजूद वे चाहते हैं कि छोटे-बड़े हर तरह के प्रयास चलते रहें। उन्नति भले उथली हो पर चौमुखी हो। इस तरह का सोच हमारे नीतिकारों को पचास उद्देश्यों के लिए एक साथ कोशिश करने की प्रेरणा देता है।

दूसरा कारण शायद यह हो कि नीतिकारों को अपनी इस कार्यशैली का कोई विकल्प नहीं दिखता। वे सचमुच सोचते हैं कि यदि "कम्प्यूटर साक्षरता" जैसे काम को पाँच साल के लिए टाल दिया गया तो देश इक्कीसवीं सदी की तैयारी में पिछड़ जाएगा। उनकी दृष्टि में भारत जैसा पिछड़ा हुआ और जटिल समस्याओं से घिरा देश प्रयास करने के लिए अभिशप्त है, सफलता चाहे कहीं पूरी तरह न मिले। अतः मच्छरों के साथ-साथ अन्तरिक्ष पर भी विजय पानी है।

तीसरा सम्भावित कारण यह हो सकता है कि नीतिकारों को जनता के साक्षर हो जाने से डर है। निरक्षर होकर जनता इतनी कुलबुलाती है तो साक्षर होकर तो वह हरदम शासकों पर झपटेगी। निरक्षर आदमी की आवाज़ फलाँग भर पहुँचती है, पर साक्षर आदमी की बात हज़ारों मील दूर भी सुनी-समझी जा सकती है।

मेरी समझ में पहला कारण दूसरे से और दूसरा कारण तीसरे से ज़्यादा सच है। तीसरे कारण की उपयोगिता शायद यही है कि उसे मद्देनज़र रखा जाए। डर जैसी गन्दी चीज़ का इलाज यही है कि उसे अभिव्यक्त करके दिमाग से निकाल दिया जाए। एक बार हमारे नीतिकार यह घोषित कर दें कि उन्हें साक्षरता से कोई डर नहीं है, तो फिर कम से कम वे प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में अपनी विफलता पर ज़्यादा साफ दिल से विचार कर सकेंगे।

फोकस की कमी और विरल संसाधनों से प्राइमरी शिक्षा की विफलता की थोड़ी-बहुत व्याख्या की जा सकती है, पूरी तरह नहीं। विफलता का एक बड़ा पहलू यह है कि हमारे देश में यह ठीक-ठीक नहीं समझा जाता कि बच्चे किस तरह साक्षर बनते हैं। पारम्परिक दृष्टिकोण यह है कि वर्णमाला को पहचानने और याद करने का प्रयास बार-बार करके अन्ततः बच्चा पढ़ना सीख जाता है। इस दृष्टिकोण के तहत अध्यापक बच्चे को एक-एक अक्षर की पहचान कराता है, उसकी आवाज़ से परिचित कराता है और बार-बार उसकी आकृति का अभ्यास करने को कहता है। एक बार जब बच्चा वर्णमाला के सारे अक्षर पहचानने लगता है तो फिर पाठ्य पुस्तक को पाठ-दर-पाठ याद करने का सिलसिला शुरू होता है।

कम ही लोग यह जानते हैं कि इस पद्धति की उपयोगिता उन्हीं समाजों के लिए है जहाँ थोड़े से लोगों को साक्षर बनाना पर्याप्त हो। अन्य समाजों के सन्दर्भ में इस पद्धति में एक बुनियादी कमज़ोरी है। वर्णमाला याद कराके

पढ़ना सिखाने में भाषा और अर्थ का रिश्ता शुरू से टूट जाता है। कुछेक सौभाग्यशाली बच्चों के घर का वातावरण इस रिश्ते को साथ-साथ जोड़ता चलता है, इसलिए उनके लिए यह पद्धति विफल सिद्ध नहीं होती। शेष यानी अधिसंख्य बच्चों के शैक्षिक जीवन को यह पद्धति शुरू से ही अर्थहीन बना देती है। इस कारण वे देर-सवेर साक्षर बनने या बने रहने के सौभाग्य से वंचित हो जाते हैं। वर्णमाला में कोई अर्थ नहीं होता। उसे याद करने की विवशता बच्चे को बार-बार थकाती है। और यदि स्कूल व घर का माहौल रूखा हो तो बच्चा अन्ततः अपनी असफलता और उससे पैदा हुई निराशा स्वीकार लेता है।

प्राइमरी शिक्षा की व्यापक विफलता को कम करने के लिए नीतिकारों को ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करनी होंगी जिनमें भाषा और अर्थ का सम्बन्ध बनाकर कुछ सीखना सम्भव हो। पहली ज़रूरत ऐसे अध्यापक की होगी जो अच्छी तरह यानी आधुनिक शिक्षण प्रणालियों में प्रशिक्षित हो, अधिकारियों का सताया हुआ न हो और ऊपर से थोपे गए पाठ्यक्रम से पढ़ाने के लिए विवश न हो। ऐसे अध्यापक की मदद के लिए रंग, कागज़, बाल-साहित्य और काठ के ब्लॉकों जैसा सामान मुहैया कराना होगा। बच्चे कक्षा में खेलेंगे, बातें करेंगे, और चर्चा से स्कूल के परिवेश का विश्लेषण करेंगे, तब कहीं जाकर ऐसा वातावरण पैदा होगा जिसमें वे पढ़ना-लिखना सीखने की ज़रूरत और उमंग महसूस करेंगे।

ऐसे वातावरण की तैयारी के लिए प्राइमरी स्कूल को सामाजिक जीवन की धुरी पर लाना ज़रूरी है। उसका पाठ्यक्रम समाज की व्यापक चिन्ताओं और उद्देश्यों को अभिव्यक्त करे, तभी बच्चे कुछ सीखने को उत्साहित महसूस करेंगे। आज़ादी के पहले दशक में जब बुनियादी शिक्षा की बात भुलाई नहीं जा चुकी थी, प्राइमरी स्कूल आज की तरह सामाजिक परम्पराओं, प्रतीकों, कौशलों और मुहावरों से बेगाना नहीं था। बाद में विशेषज्ञों और राष्ट्रीय स्तर पर काम करने वाली ताकतवर संस्थाओं ने प्राइमरी स्कूल की स्थानीयता पर चोट की और अपने आसपास से जुड़ने की उसकी क्षमता को गैर-ज़रूरी बना दिया। पाठ्यक्रम में अध्यापक की भूमिका समाप्त हो गई। और इस तरह प्राथमिक शिक्षा और साक्षरता के विस्तार का एक बहुत बड़ा स्रोत सूख गया।

धानम की आँख से उठा सवाल

धानम की आँख से उठा सवाल

तमिलनाडु के सेलम ज़िले के एक गाँव के प्राइमरी स्कूल में ठीक-ठाक क्या घटा, यह तय करना बहुत कठिन क्या, असम्भव हो चुका है। यद्यपि एक-दो अखबार यह दावा कर रहे हैं कि उनके खोजी संवाददाता सत्य का पता लगाकर आश्वस्त हो चुके हैं। इन अखबारों द्वारा अब उघाड़ा गया सत्य उन्हीं के द्वारा पहले दी गई खबर को झूठा ठहराता है। यानी पहले उन्होंने एक खबर लिखकर देश का ध्यानाकर्षण किया, अब वे उसी खबर को झुठलाकर सब की चिन्ता मिटा रहे हैं। धन्धा बुरा नहीं है – आखिर पत्रकारिता चलेगी कैसे, यदि वह सत्य का लगातार परिमार्जन करने से कतराए? मगर इस विशेष घटना की पहले दी गई खबर के गलत सिद्ध कर दिए जाने पर भी काफी कुछ बच रहा है।

मूल खबर यह थी कि इस प्राइमरी स्कूल में पानी पीने के लिए सवर्ण और दलित बच्चों के लिए अलग-अलग व्यवस्था थी। सवर्ण बच्चे अपने हाथ से पानी पीते थे, दलित बच्चों को बर्तन छूने की मनाही थी। अतः उन्हें किसी सवर्ण बच्चे द्वारा उड़ेला गया पानी अपने हाथों में भरकर पीना पड़ता था। यह व्यवस्था एकदम निराली या अस्वाभाविक नहीं थी – देश के कई गाँवों में दलित बच्चे अपने हाथ से पानी नहीं पी सकते, इस बात की मुझे व्यक्तिगत जानकारी है, सरकार को भी होनी चाहिए। मगर तमिलनाडु से आई नई खबर कहती है कि उस प्राइमरी स्कूल में ऐसी व्यवस्था नहीं थी। बल्कि वहाँ एक आया सारे बच्चों को पानी पिलाती थी। बड़े ज़ोर से कहा जा रहा है कि दलित बच्चों को अछूत मानने का प्रश्न ही नहीं है।

प्रश्न उठा इस वजह से कि साढ़े पाँच वर्ष की एक लड़की की आँख बुरी तरह घायल हो गई। आँख की रोशनी बचाने के लिए ऑपरेशन किया गया और एक महँगा कृत्रिम लेंस लगाया गया। पहले आई खबर थी कि

धानम को उसके शिक्षक ने पीटा था और इस पिटाई का कारण यह बताया गया था कि उसने स्कूल की व्यवस्था का उल्लंघन करके अपने हाथ से पानी पीते समय बर्तन छू दिया था। अब आई खबर में कहा गया है कि यह पूरी कहानी झूठी है। नई खबर के अनुसार धानम अपनी एक सहपाठिन से लड़ते समय उसके नाखून से घायल हुई थी और शिक्षक द्वारा पीटे जाने की कथा धानम के पिता ने इसलिए गढ़ी थी कि उसकी आँख के इलाज के लिए पैसा शिक्षक से वसूल सके।

मान लीजिए कि ऐसा ही हुआ – यानी कि दूसरी खबर सही है – तो भी यह बात बची रह जाती है कि अस्पृश्यता को लेकर एक विश्वसनीय कहानी गढ़ना आज की तारीख में सम्भव बना हुआ है। इतिहासकार पी. राधाकृष्ण ने कुछ सप्ताह पूर्व अपने एक लेख में लिखा था कि तमिलनाडु के समाज में अनुसूचित जातियों की स्थिति आज तक दयनीय बनी हुई है। ब्राह्मण-विरोधी सांस्कृतिक और राजनीतिक आन्दोलन को साठ बरस से ऊपर हो चुके, अस्सी प्रतिशत से ऊपर आरक्षण की व्यवस्थाएँ भी बहुत समय से लागू हैं, पर दलितों की अवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। धानम की आँख को लगी चोट को लेकर छपी पहली खबर इसी कारण अविश्वसनीय नहीं लगती। उलटे दूसरी खबर अविश्वसनीय लगती है जिसके अनुसार पाँच साल के दो बच्चे आपस में इतनी बुरी तरह लड़े। यदि यही पूरा सच है, तो भी यह दृश्य तमिलनाडु के शिक्षकों के लिए गर्व करने का बहाना नहीं देता। स्कूल में दो छोटी बच्चियों की भयानक लड़ाई, उनके बढ़े हुए नाखून और फिर घायल लड़की के पिता का शिक्षक पर आरोप – ये स्कूल की दैनिक संस्कृति की जैसी झलक दिखाते हैं वह पानी की व्यवस्था में छुआछूत से कुछ कम चिन्तनीय नहीं है। शिक्षक संघ ने कहा है कि अनुसूचित जाति के लोग शिक्षकों पर कोई भी दोष मढ़ सकते हैं। संघ की यह टिप्पणी भी तमिलनाडु के समाज में शिक्षा के मायनों और खासकर बच्चों के समाजीकरण (जिसमें शिक्षक और माता-पिता के रिश्तों की एक बड़ी भूमिका होती है) पर काफी कष्टप्रद आलोक फेंकती है।

पहाड़ी धीरज की घुटन

पहाड़ी धीरज की घुटन

सभ्यता और स्कूल का रिश्ता अटूट मानने वालों को दिल्ली में घटी हाल की घटना से तकलीफ हुई होगी। इस तकलीफ से राहत वे शिक्षकों पर बरसकर पाएँगे या सरकार और ज़माने को कोसकर, यह चिन्ता उन्हीं के लिए उपयोगी है। हमारा ध्यान इस बात पर जाना चाहिए कि जो समाज अपनी सभ्यता के सर्वश्रेष्ठ का एहसास खो चुका हो, उसके स्कूल आयोजित बर्बरता के कारखाने बन जाएँगे, इसमें आश्चर्य क्या। स्कूल का सभ्यता से सम्बन्ध कटा हुआ है, यह कहे जाते ही बहुत से लोगों का ध्यान बरबस धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादियों के वादों की ओर चला जाता है। दिल्ली में घटी घटना इन वादों में निहित भ्रम भी तोड़ती है। बाड़ा हिन्दू राव में स्थित लक्ष्मी देवी जैन स्कूल कोई पश्चिमपरस्त आधुनिकताएँ गढ़ने वाली संस्था नहीं है। वह तो उस देशज पारम्परिकता का किला है जहाँ भारतीयता विलासप्रिय पश्चिम की चकाचौंध से बचकर अपनों के बीच सुरक्षित महसूस करती है। व्यापारियों, दुकानदारों और छोटे पूँजीपतियों के इलाके की इस कन्याशाला में शिक्षा और राजनीति दोनों के मूल्यों की रक्षा हो रही होगी, ऐसा मान लेना भला क्यों गलत हो? आखिर कब से बताया जाता रहा है कि स्त्री की इज़्ज़त भारतीयता का अभिन्न अंग है और उसे खतरा है तो उसी पश्चिमी सभ्यता से जिसके प्रचारक अँग्रेज़ी माध्यम पब्लिक स्कूल हैं।

एक तर्क यह हो सकता है कि किसी अँग्रेज़ी माध्यम पब्लिक स्कूल में डेढ़ सौ रुपयों का इतना महत्व ही नहीं आंका जाएगा जितना लक्ष्मी देवी जैन स्कूल में आंका गया। पैसे के किफायती प्रयोग को बचपन के तमाम अनुशासनों में शामिल करने की प्रवृत्ति अब वास्तव में फैशन नहीं रही जो फैशन के अगुआ स्कूल उससे ग्रस्त हों। उलटे आज की नैतिकता तो पैसे को खेल समझने में केन्द्रित है और यह सच है कि दिल्ली-मुम्बई के नामी

स्कूलों में बच्चे सौ-पचास रुपए एक दिन में उड़ाने के लिए स्वतंत्र माने जाते हैं। क्या लक्ष्मी देवी स्कूल की प्राचार्या पैसे के महत्व का पाठ सिखाना चाहती थीं? जो विवरण अखबारों में आया है, उससे ऐसा नहीं लगता कि वे डेढ़ सौ रुपयों की चोरी से उद्विग्न हुईं और चोर का पता लगाने की खातिर उन्हें छात्राओं के कपड़े उतरवाकर तलाशी लेना ज़रूरी और उचित लगा। हमें यह मानना होगा कि चोरी को इतना महत्वपूर्ण अपराध एक पारम्परिक स्कूल में ही बनाया जा सकता था। आधुनिक कहे जाने वाले स्कूलों में भी चोरियाँ होती हैं, पर महत्व छुरेबाज़ी, हत्या और डकैती को ही मिलता है। यह महत्व भी संस्थाई तौर पर नहीं मिल पाता, क्योंकि ये घटनाएँ प्रायः स्कूल के बाहर होती हैं।

जैसा कि इस तरह की घटनाओं में हमेशा होता है, नैतिक पाठ सिखाने की बात तो सिर्फ एक फर्ज़ी केन्द्र होती है। असली पाठ इस केन्द्र के इर्द-गिर्द टिके होते हैं। वैसे भी शिक्षा के समाजशास्त्री बहुत पहले से बता रहे हैं कि नैतिक पाठ ही नहीं, पाठ्यक्रम में शामिल ज्ञान भी दरअसल स्कूल की धुरी नहीं है। धुरी है समाजीकरण, जिसका उद्देश्य इस बात की सीख देना होता है कि अधिकृत शक्ति किसके पास है। अधिकृत शक्ति के आगे आदतन झुकने और उसके इर्द-गिर्द अपने व्यवहार और आत्मसम्मान को ढालने की शिक्षा देना स्कूल के शास्त्रीय कामों में शामिल है। ये काम स्कूल अपेक्षाकृत अहिंसक ढंग से कर सके, इसके लिए ज़रूरी है कि संस्कृति और शासन प्रणाली उदारपन्थी हो। यदि वातावरण उन्माद और सर्वसत्तावाद की ओर बढ़ने लगे, तो स्कूल की कार्य प्रणाली में हिंसा बढ़ने लगती है।

हमारी व्यवस्था में स्कूल को हिंसक बनाने वाले तत्व लगातार सक्रिय रहे हैं। विरासत चाहे अँग्रेज़ी राज से मानें, चाहे शिक्षा प्रणाली की स्थापना के पहले चल रही शिक्षा से, बच्चों पर हिंसा हमारी स्कूली संस्कृति का स्वीकृत अंग रही है। परम्परा ने शिक्षक को यह अधिकार सुदूर अतीत में ही दे दिया था कि वह बच्चे को चाहे जैसा दण्ड दे। हाल के वर्षों में शिक्षक की अपनी परिस्थितियाँ कुछ इस तरह बदली हैं कि वह अपनी सारी निराशा, बेबसी और ऊब बच्चों पर उतारने लगा है। समाज और स्वयं शिक्षा विभाग में शिक्षक की लाचारी जैसे-जैसे बढ़ी है, स्कूल की चहारदीवारी में उसकी तानाशाही और क्रूरता भी साथ-साथ बढ़ी है। समाज बच्चों के प्रति उदासीन है और सरकार की चिन्ता प्रायः फर्ज़ी हुआ करती है, इन एहसासों ने शिक्षक के हाथ को और ज़्यादा खोल दिया है। कक्षाओं और

बरामदे में शिक्षक की बात बच्चे को कभी मधुर वाणी में सुनने को नहीं मिलती और शिक्षक का हाथ यदि चाक या छड़ी में अटका हुआ नहीं है तो सीधे बच्चे के बालों या गाल की तरफ आता दिखता है। बच्चे को शिक्षक का प्यार मिले और उसे यह भरोसा हो कि शिक्षक सदा उसका पक्ष लेगा, यह गिजुभाई जैसों का सपना ही रह गया है।

जिन शिक्षिकाओं ने अपनी प्राचार्या के निर्देशन में छात्राओं की तलाशी ली, वे निश्चित ही दस-बीस छात्राओं को अपमानित करने के बाद अपने प्रयास की निरर्थकता और असभ्यता पहचान चुकी होंगी। फिर भी वे जारी रहीं तो इसका अभिप्राय उनकी ताकत के निरन्तर गहराते बोध में ही मिल सकता है। हिंसा की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि वह शुरू की हिचकिचाहट के बाद हाथ को खोल देती है और दिमाग की रही-सही चेतना को बन्द कर देती है। लड़कियों के जो थोड़े से बयान अखबारों में छपे हैं, वे बताते हैं कि प्राचार्या पर जैसे एक जुनून सवार हो गया था। चोरी गया पैसा इकट्ठा करके दे देने का सुझाव स्वयं लड़कियाँ दे चुकी थीं, इसलिए ज़ाहिर है कि चोरी अब प्राचार्या के लिए महत्वपूर्ण नहीं रह गई होगी। वह सिर्फ सबक सिखाने की खातिर उस बर्बरता का निरीक्षण करती चली गईं जिसका एक छोर स्कूल की सभ्यता में उनकी ताकत को अधिकृत करार देता है।

इस घटना में लड़कियों का समाजीकरण भी गौर करने योग्य है। परीक्षा में नकल करते लड़कों को पकड़ने की हिम्मत दिखाने वाले शिक्षक हर मार्च-अप्रैल में पिटते हैं। हम सहज कल्पना कर सकते हैं कि यदि लक्ष्मी देवी स्कूल लड़कों का होता तो इस घटना की क्या परिणति होती। अपमान चाहे अकेले में हो या सामूहिक रूप से, उसे सह जाने की क्षमता हमारे समाज में स्त्री का गुण ही नहीं, चरित्र भी माना जाता है। इस मान्यता को चरितार्थ करने, यानी इस गुण के विकास का काम समाज ने स्कूल को सौंप रखा हो, यह स्वाभाविक ही है। वैसे तो हमारी शिक्षा व्यवस्था लड़कों और लड़कियों दोनों के अहम को कुचलकर उन्हें बड़ा करती है, पर यह कुचलन लड़कों के सन्दर्भ में समाज और परिवार के प्रभाव के कारण पूरी तरह सफल नहीं हो पाता। लड़कियों के मामले में परिवार, समाज और स्कूल तीनों समवेत रूप से काम करते हैं और अस्मिता को व्यक्तिगत अहम से पूरी तरह मुक्त कर नारी की मान्य छवियों को जोड़ देते हैं। इस तरह कोई लड़की अपने पर बरसने वाली हिंसा को सहने का अथक सामर्थ्य पा जाती है।

पर यदि कल्पना भी करें कि इन छात्राओं ने प्रतिकार का दुस्साहस दिखाया होता तो आप मानकर चल सकते हैं कि अखबारों में इस घटना ने एक दूसरा ही रूप लिया होता। अपमानित किए जाने की बात तब विवाद का विषय बन जाती, छात्राओं की उच्छृँखलता ही प्रमुखता से दुनिया को दिखाई जाती और उस पर काबू पाने में अक्षम सिद्ध हुई शिक्षिकाएँ हमदर्दी का पात्र बनने का प्रयास करतीं। यह सब नहीं हुआ, पर जो हुआ वह भी कुछ वैसा नहीं हुआ जो प्राचार्या ने सोचा होगा और एक स्थिर समाज में होता। अपमानित छात्राओं ने अपने साथ बीती माँ-बाप से नहीं छिपाई और माँ-बाप ने स्कूल पर संगीन दबाव डाला। ये बातें दिखाती हैं कि समाजीकरण की वह बर्बर शिक्षा सफल नहीं हुई। प्राचार्या अपनी अधिकृत ताकत के उन्माद में बहकर एक ऐसी जगह पहुँच गईं जहाँ से बयानबाज़ी या तथ्यों की छानबीन जैसे साधन उन्हें वापिस नहीं ला सकते थे। स्कूल में रोज़ होने वाली हिंसा आखिर एक प्रसंग में अपराध बनी और अभिभावक की उदासीनता टूटी। क्या इसे सिर्फ संयोग कहें कि यह घटना जहाँ घटी, उस जगह को "पहाड़ी धीरज" कहते हैं? नामों का भी अपना समाजशास्त्र होता है। स्थान उन्हीं नामों से पुकारे जाते हैं जिनमें इतिहास या भविष्य के अन्तर्द्वन्द्व समाए हों।

शिक्षा का खण्डित व्यक्तित्व

शिक्षा का खण्डित व्यक्तित्व

आज की अर्थव्यवस्था में उपलब्ध रोज़गार के अवसरों के सन्दर्भ में किसी शिक्षित भारतीय की किस्मत पर प्रभाव डालने वाली सबसे प्रबल चीज़ यही है कि उस व्यक्ति का अँग्रेज़ी पर अधिकार है या नहीं। जिस शिक्षित व्यक्ति की अँग्रेज़ी में गति नहीं है, उसके सामाजिक भाग्य में ऊँची नाप और हैसियत के धन्धों और स्थानों में प्रवेश कर पाने की सम्भावना बहुत सीमित है। अँग्रेज़ी का इस्तेमाल कर सकने की क्षमता एक तरह का शार्टहैण्ड है जिसे नौकरीतंत्र में हर कोई समझता है। इस शार्टहैण्ड में लिखा है कि यदि कोई शख्स अँग्रेज़ी में बोल लेता है तो उसकी सामान्य बौद्धिक क्षमताएँ भी बढ़ी-चढ़ी होंगी। यही लिखावट आगे कहती है कि जो शिक्षित व्यक्ति अँग्रेज़ी के प्रयोग में कमज़ोर है या उसे एकदम ही नहीं जानता तो उसकी सामान्य बौद्धिक क्षमताओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाएगा और इन क्षमताओं का उपयोग किए जाने की स्थिति पैदा ही नहीं होगी।

लेकिन मामला इतना सरल नहीं है। अँग्रेज़ी में गति किसी शिक्षित व्यक्ति की सामाजिक नियति अकेले तय नहीं करती। वह एक समग्र सूचक के रूप में काम करती है। यह सूचक "समग्र" इसलिए है क्योंकि वह लम्बे समय से उपयोग किए जा रहे सुविधाचक्र और उसके तमाम मनोवैज्ञानिक प्रतिफलों का संकेत देता है। छुटपन में ही किसी अँग्रेज़ी माध्यम स्कूल में भेज दिए जाने की खबर इस समग्र सूचक से मिलने वाली एक प्रमुख सूचना है। ऐसा स्कूल प्रायः प्राइवेट होता है (यद्यपि सरकारी व्यवस्था में भी ऐसे स्कूल अब इधर-उधर दिख जाते हैं) और एकदम आरम्भिक कक्षाओं से ही वह पाठ्यक्रम के हर विषय की पढ़ाई अँग्रेज़ी में कराता है। इसके विपरीत सरकारी स्कूलों में अँग्रेज़ी एक विषय के रूप में दिन की एक घण्टी में पढ़ाई जाती है और इस रूप में भी वह आरम्भिक कक्षाओं में नहीं पढ़ाई जाती।

अभी बहुत समय नहीं बीता, पचास और साठ के दशकों में सरकारी स्कूल एक ही घण्टी में अँग्रेज़ी पढ़ाकर ऐसे शिक्षित व्यक्ति रच लेता था जिन्हें सन्तुलित द्विभाषी कहा जा सके। इस किस्म के लोग आज दुर्लभ हो गए हैं। इस परिवर्तन का एक बड़ा कारण यह है कि आज़ादी के बाद के दशकों में शिक्षा का प्रसार बहुत सीमित था, इसलिए माध्यमिक कक्षाओं में समाज के अपेक्षाकृत सम्पन्न और पढ़े-लिखे तबकों की सन्तान ही पहुँच पाती थी। स्कूल की पढ़ाई मातृभाषा में करते हुए ये बच्चे घर पर अपनी अँग्रेज़ी पर ध्यान देने के लिए विशेष प्रोत्साहित किए जाते थे। आज की स्थिति में काफी फर्क है। महानगरों से लेकर कस्बों और यहाँ तक कि बड़े गाँवों तक में समाज के सम्पन्नतर वर्ग अपनी सन्तान को सरकारी शिक्षा व्यवस्था से बाहर खींचकर प्राइवेट स्कूलों में पढ़ाने के लिए कटिबद्ध हैं। सरकारी स्कूल में विपन्नतर वर्गों के बच्चे रह गए हैं। उनका वहाँ रह जाना इस बात का प्रतीक माना जाता है कि उनके माता-पिता उन्हें प्राइवेट स्कूल में भेजने में असमर्थ हैं।

स्कूली जनसंख्या के इस बँटवारे ने सरकारी स्कूल के शिक्षकों और प्राचार्यों के मनोबल पर बुरा असर डाला है। वैसे ही स्कूल के रख-रखाव और फर्नीचर से लेकर लाइब्रेरी और खेल के सामान जैसी बुनियादी ज़रूरतों पर सरकारी खर्च में लगातार होती रही कटौती से शिक्षकों ने यह सन्देश पा लिया था कि सरकार को अपने स्कूलों की परवाह नहीं है। इस सन्देश का सबसे पक्का प्रमाण राजीव गांधी ने प्रधानमंत्री बनने के ठीक बाद नवोदय विद्यालय शुरू करने की आवश्यकता बताते हुए यह दलील देकर जुटाया था कि हर ज़िले में कम से कम एक अच्छा स्कूल होना चाहिए। आशय साफ था कि बाकी स्कूल सड़ रहे हैं और उन्हें सड़ने दिया जाएगा। नवोदय योजना और अँग्रेज़ी माध्यम प्राइवेट स्कूलों के निरन्तर बढ़ने से सरकारी स्कूल का शिक्षक समझ गया है कि उसका काम ऐसे बच्चों की देखरेख करना है जो कहीं और नहीं जा सकते। उसकी इस भावना का सीधा सम्बन्ध सरकारी स्कूल के गिरते स्तर से है और इस प्रक्रिया में अँग्रेज़ी की पढ़ाई का स्तर शामिल है। सरकारी स्कूल की पढ़ाई में आई गिरावट से जन सामान्य में यह विश्वास बैठ गया है कि यदि बच्चे को अँग्रेज़ी में निपुण बनाना है तो उसे अँग्रेज़ी माध्यम यानी प्राइवेट स्कूल में भेजना ज़रूरी है। उधर सरकारी स्कूलों के शिक्षकों में व्याप्त निराशा और कुण्ठा का शिकार बनने के लिए समाज के पहले से वंचित वर्गों की सन्तान अभिशप्त है।

इस प्रकार से दो स्कूली धाराओं में बच्चों का विभाजन समाज के सुविधाभोगी और वंचित वर्गों की दूरी को लगातार बढ़ा रहा है। प्राइवेट, अँग्रेज़ी माध्यम स्कूल में पढ़ाई के दौरान सम्पन्नतर वर्गों के बच्चे अँग्रेज़ी पर अधिकार के साथ-साथ कुछ अन्य व्यवहार सम्बन्धी विशेषताएँ भी पा लेते हैं। इन विशेषताओं में प्रमुख हैं अपना एक दृष्टिकोण होने का एहसास, उसे व्यक्त करने और उस पर ज़ोर देने का आत्मविश्वास और किसी भी कीमत पर प्रतियोगिता में आगे निकलने की इच्छा। ऐसा नहीं है कि सरकारी स्कूल के बच्चों में ये विशेषताएँ होती ही नहीं। होती हैं, पर प्रायः एक समुच्चय के रूप में नहीं। प्राइवेट स्कूल के बच्चे के व्यवहार में इन विशेषताओं के विकास की प्रक्रिया में उसकी अपनी एक पहचान जन्म लेती है, जो सरकारी स्कूल के प्रशासकीय माहौल में अक्सर उभर ही नहीं पाती। हर प्राइवेट स्कूल का एक नाम होता है, जिसके इर्द-गिर्द उसके प्राचार्य की छवि, कुछ प्रतीक, कुछ परम्पराएँ रचने की एक खासी कोशिश की जाती है। सरकारी स्कूल का कोई अलग नाम नहीं होता, ये सभी "शासकीय उच्चतर माध्यमिक" स्कूल कहलाते हैं। प्राचार्य और शिक्षक तबादले पर आते-जाते रहते हैं। स्कूल की कोई परम्परा, कोई पहचान नहीं होती। सरकारी स्कूल को तो बस उस इलाके या स्थान के नाम से जाना जाता है जहाँ वह स्थित है।

इस अन्तर का बच्चे की आत्मछवि पर प्रभाव ऐसे मौकों पर स्पष्ट देखा जा सकता है जब कोई बड़ा उससे पूछे, "तुम कौन से स्कूल में पढ़ते हो?" इस तरह का प्रश्न पूछा ही ऐसे समाज में जा सकता है जहाँ की शिक्षा व्यवस्था खण्डित हो। जापान में यह प्रश्न बच्चों से पूछा ही नहीं जाता, क्योंकि वहाँ हर बच्चा अपने घर के पास के सार्वजनिक स्कूल में पढ़ने जाता है। इधर हमारे देश में बच्चों से पूछा जाने वाला पहला प्रश्न प्रायः यही होता है। प्रश्न में यह पूर्वधारणा छिपी रहती है कि बच्चा किसी प्राइवेट स्कूल में पढ़ता होगा। इसलिए ऐसा प्रश्न पूछे जाने पर प्राइवेट स्कूल का छात्र तो तपाक से अपने स्कूल का नाम बता देता है, पर सरकारी स्कूल का छात्र सकपका जाता है। अपने संकोच से राहत की खातिर वह कभी-कभी उस मोहल्ले का नाम भर बताता है जिसमें उसका स्कूल स्थित है। लेकिन कई बार इस उत्तर से मामला और उलझ जाता है। महानगरों क्या, ज़िला मुख्यालयों में भी अब मोहल्ले इस हद तक आमदनी और हैसियत के प्रतीक बन चुके हैं कि अपनी रिहाइश बताना अपने परिवार की सामाजिक स्थिति का खुलासा कर देना है। जातीय या कौटुम्बिक मिलन

के अवसरों पर बच्चे अक्सर अपने शिक्षित माता-पिता की इस आलोचना का पात्र बनते हैं कि उन्होंने अपने परिवार की आर्थिक हैसियत का ज़रूरत से ज़्यादा उद्घाटन कर दिया।

हाँ, यदि बच्चा प्राइवेट, अँग्रेज़ी माध्यम स्कूल में पढ़ता है तो ऐसी कोई समस्या नहीं आती। दिल्ली के कई नामी अँग्रेज़ी माध्यम स्कूल बहुत साधारण दर्जों के इलाकों में स्थित हैं। पुरानी दिल्ली स्टेशन के पास की भीड़-भाड़ वाली सड़क के किनारे स्थित प्रेज़ेंटेशन कॉन्वेंट एक उदाहरण के तौर पर लिया जा सकता है। इस स्कूल में पढ़ने वाली लड़की से यदि यह पूछा जाए कि वह किस स्कूल में पढ़ती है, तो वह अँग्रेज़ी में बोलकर सगर्व अपने स्कूल का नाम बता देगी। लेकिन यही सवाल यदि इस सघन इलाके में स्थित सरकारी स्कूल की लड़की से पूछा जाए तो वह बेहद संकोच के साथ ही बता पाएगी कि वह चाँदनी चौक के स्कूल में पढ़ती है। कोई आश्चर्य नहीं कि सरकारी स्कूल के बच्चे इस प्रश्न के जवाब में चुप्पी साध जाते हैं। उनकी चुप्पी कई बार इस बात का सबूत मान ली जाती है कि सरकारी स्कूल के बच्चे दबंग नहीं होते। चुप रहकर काम चलाने का अभ्यास सरकारी स्कूल का बच्चा वैसे भी कई सन्दर्भों में सीखता रहता है।

बालमन में हिन्दी के प्रति अपनापन रहे कैसे?

बालमन में हिन्दी के प्रति अपनापन रहे कैसे?

मार्च 1948 की *बालसखा* में विशाल त्रिपाठी की "अँधेर" शीर्षक यह कविता छपी थी:

> ज़मींदार के लड़के होते, डिप्टी और कलक्टर होते।
> सेठ और लाला के लड़के, हल्के में इंस्पेक्टर होते।
> पर गरीब के घर के बेटे, चौकीदार और चपरासी,
> बहुत बढ़ें–हरकारें हों, या प्लेटफॉर्म के बनें खलासी।
> पढ़ने में सबसे अच्छा था, मँगू भिखमँगे का लड़का,
> मैला-मैला लम्बा-लम्बा, जग जाता था होते तड़का।
> भीख न माँगी, घर से भागा, अरे! न जाने क्या-क्या होता,
> यह देखो अँधेर कि मँगू, पड़ा रह गया बोझा ढोता।

बच्चों की पत्रिका में सामाजिक विषमता का सवाल उठाना उस समय कोई नाजायज़ बात नहीं समझी जाती थी। असहयोग आन्दोलन की शुरुआत से लेकर आज़ादी के आरम्भिक वर्षों तक ऐसी अनेक कविताएँ और कहानियाँ लिखी गईं जिन्हें पढ़कर बच्चे अपने समाज का यथार्थ सहज ढंग से समझ सकते थे। हिन्दी बाल साहित्य में आज व्याप्त घटियापन और जड़ता को देखकर सहसा विश्वास नहीं होता कि 1920 से 1960 के बीच इतना पुष्ट और अपनी ज़िम्मेदारी के प्रति सजग साहित्य हिन्दी में लिखा गया होगा।

उस दौर में सम्पादक, प्रकाशक और लेखक बाल साहित्य की रचना को एक गम्भीर सामाजिक काम मानते थे। बच्चों की पत्रिकाएँ और किताबें मज़बूत कागज़ पर छपती थीं और उनकी छपाई बड़े ध्यान से की जाती थी। उत्तर भारत के उभरते हुए मध्यम वर्ग की सांस्कृतिक चेतना और

महत्वाकांक्षा में बच्चे के लिए एक खास जगह थी। बच्चा एक सपना था जिसमें खोकर मध्यवर्गीय लेखक या कवि कुछ देर के लिए अपनी सामाजिक कुण्ठाओं से मुक्त हो लेता था। यह सपना एक आज़ाद देश का सपना भी था। उसे देखकर कई लेखक कल्पनाशक्ति पाते थे। यही कारण है कि वे इन विषयों को बच्चों से छिपाते नहीं थे। प्रेमचंद की "ईदगाह" कहानी का हामिद आत्मसम्मान की खातिर कस्बे के धनी परिवारों के लड़कों से अपनी निश्छलता और कल्पनाशक्ति के बूते पर ही भिड़ा था।

आज़ादी के बाद बच्चे की चिन्ता परिवार के घेरे में सिमट आई। नवनिर्मित राष्ट्र की सरकार अपने इरादों की डींग हाँकती रही, पर बच्चों की शिक्षा और उनके स्वास्थ्य का इन्तज़ाम न कर सकी। औपनिवेशिक परम्पराएँ शिक्षा पर हावी रहीं और स्कूली व्यवस्था समतामुखी समाज की कल्पना से दूर हटती गई। दूसरी ओर हिन्दी से जुड़ी सांस्कृतिक चेतना तेज़ी से उभरती पूँजीवादी संस्कृति और अँग्रेज़ी का दबाव सहने में असमर्थ सिद्ध हुई। आत्मविश्वास और कल्पनाशीलता की जगह पिछलग्गूपन, चापलूसी और संकीर्णता ने ले ली। बच्चों के लिए लिखना कोई सम्मानजनक बात न रही और बाल साहित्य छापना सीज़न में पैसा कमाने का धन्धा बन गया। ऐसे में बच्चे की ईमानदार और आत्मविश्वासी छवि के इर्द-गिर्द रचा गया बाल साहित्य दुर्लभ हो गया।

इस तरह की अन्तिम कृति सत्यप्रकाश अग्रवाल का *एक डर पाँच निडर* शीर्षक उपन्यास था जो *पराग* में 1960 के दौरान धारावाहिक छपा था। इसके बाद आने वाले बाल साहित्य में बच्चा एक रूढ़ प्रतीक बन गया। उसे एक हारे हुए समाज और लेखक की दमित आकाक्षाएँ ढोनी थीं। सामाजिक विषमता जैसे विषय उसकी पहुँच से दूर कर दिए गए। उससे कहा गया कि नेताओं और पुराने वीरों के जीवन-चरित्र पढ़कर आदर्शवादी बनो और मनोरंजन के लिए डाकुओं से मुठभेड़ या चन्द्रमा पर विजय के किस्से पढ़ो। इस तरह का साहित्य थोक से छपने लगा। न उसमें भाषा की सुघड़ता थी, न लेखकीय ईमानदारी। इस प्रवृत्ति के चलते घटिया चित्रकथा और गल्प साहित्य गली-कूचों पर बिकने लगा। साथ-साथ हर नुक्कड़ पर दड़बों जैसे प्राइवेट स्कूल खुल गए। शिक्षा के नाम पर एक बहुत बड़ा झूठ समाज पर छा गया। सरल स्नेह का अनुभव पाने के लिए सिर्फ परिवार रह गया और बहुत से बच्चों के लिए वह भी टूटने लगा।

बच्चों के जीवन में आज हम जो सांस्कृतिक शून्य देखते हैं उसकी

पृष्ठभूमि संक्षेप में यही है। इस शून्य की सबसे विश्वसनीय पहचान है भाषा। उसे परखने के दो तरीके हैं। एक यह कि हम बच्चों की भाषा सुनें। दूसरा यह कि हम उस भाषा पर ध्यान दें जो बच्चों को पढ़ने और सुनने को मिल रही है। महानगरों को तो खैर छोड़ देना ही उचित है। छोटे शहरों और कस्बों में भी ऐसे बच्चे आज मुश्किल से मिलेंगे जो साफ-सुथरी हिन्दी में अपनी बात इत्मीनान से कहकर बता सकते हों। सिर्फ गाँव में अब ऐसे बच्चे रह गए हैं। वहाँ भी कुछ वर्षों बाद यह स्थिति नहीं रहेगी, क्योंकि सरकार अब अपनी लूली-लंगड़ी शिक्षा व्यवस्था को गाँवों में फैलाने पर आमादा है।

बाल-हृदय के प्रति उदासीन और सांस्कृतिक ऊर्जा से एकदम रिक्त हिन्दी पाठ्यक्रमों के ज़रिए ही फैलाई गई है। इस हिन्दी में कमी कहाँ है यह देखने के लिए आपको आज इस्तेमाल की जा रही प्रवेशिकाओं की तुलना आज से चालीस साल पहले छपी *बाल सखा प्राइमर* और शालिग्राम वर्मा की *नया खिलौना* जैसी पुस्तकों से करनी होगी। बच्चे के प्रति सहज सम्मान और उसका कौतूहल जगाने की जैसी चेष्टा इन पुस्तकों में दिखाई देती है वह आज की पुस्तकों में गायब है। स्कूलों में बच्चों को हिन्दी के नाम पर वही जड़ भाषा सिखाई जा रही है जो आकाशवाणी और दूरदर्शन पर बच्चों के लिए प्रसारित किए जाने वाले कार्यक्रमों में सुनाई देती है। कोई आश्चर्य नहीं कि इस भाषा को बच्चे अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बना पाते। उल्टे वह एक विशाल सांस्कृतिक जकड़न को जीने का माध्यम बन जाती है।

प्रश्न यह है कि बच्चों की हिन्दी को आज की जड़ शिक्षा व्यवस्था के प्रभाव से कैसे बचाया जाए। इस समस्या को सुलझाने की दिशा में महत्वपूर्ण पहल टीकमगढ़ के बाल साहित्य केन्द्र ने अभी हाल में की। कोई पाँच साल से यह संस्था बच्चों के जीवन में हिन्दी की प्रतिष्ठा करने में लगी है। सुनने, बोलने, चित्र बनाने, कहानी और कविता सुनने, घूमने और देखने के अनुभवों के बीच अच्छा यानी कल्पनाशील बाल साहित्य पढ़ने का अवसर देकर यह संस्था बच्चों के व्यक्तित्व में स्कूली पढ़ाई द्वारा पैदा की गई टूटन का इलाज करती है। पिछले नवम्बर से इस मार्च के दौरान इस संस्था ने एक नया काम किया। इस नए काम का महत्वपूर्ण पहलू यह है कि काम पाँच साधारण सरकारी प्राइमरी स्कूलों में और सरकार द्वारा दिए गए पैसे और सहयोग से हुआ। सरकार से सहयोग लेने के लिए संस्था को एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाना पड़ा, पर अन्त में कामयाबी मिली। कहने

को काम कोई बहुत बड़ा भी नहीं था, पर आज की शिक्षा व्यवस्था में छोटे प्रयोग का हौसला और सामर्थ्य भी कहाँ रह गया है?

काम यह था कि बाल साहित्य केन्द्र का दर्शन प्राइमरी स्कूल में ले जाया जाए। यानी स्कूल में ऊबाऊ पाठ्यक्रमों की पढ़ाई के कर्मकाण्ड की जगह बाल-हृदय के खुलने और खिलने की सम्भावना बने। दूसरे शब्दों में, रेत के विस्तार के बीच एक क्यारी बने जो कम से कम कुछ हरी रहे और इस बात का विश्वसनीय सबूत दे कि यहाँ क्यारी बन सकती है। इस काम को करने बाल साहित्य केन्द्र से जुड़े हुए दो शिक्षक गुरबचन सिंह और फूलचन्द्र जैन सरकारी प्रतिनियुक्ति पर टीकमगढ़ नगर के पाँच प्राइमरी स्कूलों में गए। वहाँ रोज़ कुछ समय के लिए उन्होंने उन सब चीज़ों और गतिविधियों का इन्तज़ाम किया जो किसी भी जीवित स्कूल में आदतन होनी चाहिए पर नहीं हो रहीं।

एक बात तो बड़ी साधारण थी – यह कि बच्चों को आज़ादी से बोलने को मिले। बड़ी अजीब चीज़ है कि बोलना हर आदमी का अधिकार है पर स्कूल में बच्चे की बोलती पर अध्यापक का पहरा रहता है। बच्चों के दमन का सबसे बड़ा हथियार यही पहरा है और इसी के ज़रिए हमारे बच्चों को दब्बू, घुन्ना बनाया जाता है। दूसरी बात है कि बच्चों की बात पर शिक्षक ध्यान दे, उसे प्यार से सुने और उसका जवाब दे। जवाब इस तरह दे कि बच्चे की बात आगे बढ़े, उसकी जिज्ञासा और बोलने की इच्छा फूले। बच्चे की हिन्दी में निखार लाने का यही तरीका है। तीसरी चीज़ यह है कि दबी हुई अभिव्यक्ति क्षमता को बाहर लाने के दूसरे माध्यम, जैसे रंग और चित्र, बच्चे को मिलें। अन्तिम बात यह है कि अच्छी कविताएँ और कहानियाँ बच्चों को पढ़ने-सुनने को मिलें।

बाल साहित्य केन्द्र की परियोजना में यही चारों चीज़ें थीं। परियोजना का लक्ष्य यह था कि स्कूल के अध्यापक अपनी धूल-धूसरित दैनन्दिनी और इमारत में कुछ नया होता हुआ देखें, जिससे उनके मन में बच्चों के बीच सृजनशील काम के प्रति राग पैदा हो। यह लक्ष्य टीकमगढ़ की परियोजना को किस हद तक प्राप्त हुआ यह कहना आसान नहीं है। कुछ अध्यापकों ने प्रयोग में हिस्सेदारी की और कुछ ने सिर्फ देखा। पर शायद उस लम्बी उदासी को यह प्रयोग थोड़ा-बहुत विदीर्ण कर सका जो भारत के प्राइमरी अध्यापक में पैठी है।

उदासी को तोड़ने के लिए ऐसे बीसियों प्रयोग होने चाहिए और वैसी ढेरों

किताबें चाहिए जैसी अभी हाल में काशीनाथ त्रिवेदी के ऐतिहासिक प्रयास से हिन्दी में आई हैं। त्रिवेदी जी ने कोई पचास वर्ष पहले गिजुभाई का *दिवास्वप्न* गुजराती से अनुवाद करके हिन्दी क्षेत्र में लोकप्रिय बनाने का बीड़ा उठाया था। वे स्वतंत्रता के बाद कुछ महीने मध्य भारत के शिक्षामंत्री रहे, पर अपने जीवन की साधना उन्होंने सरकार से स्वतंत्र रहकर ही की। पिछले साल उन्होंने गिजुभाई की सारी महत्वपूर्ण पुस्तकों को एक ग्रन्थमाला के रूप में हिन्दी में उपलब्ध कराने का संकल्प किया। राजदलेसर (चुरू, राजस्थान) की मान्टेसरी बाल शिक्षण समिति की ओर से अब तक सात पुस्तकें प्रकाशित भी हो चुकी हैं। ये किताबें सस्ते मूल्य पर और बहुत अच्छे ढंग से छापी गई हैं। गुजरात के महान शिक्षाविद् और बाल साहित्य लेखक गिजुभाई के क्रान्तिकारी विचार यदि इस ग्रन्थमाला की मदद से कुछ सैंकड़ा हिन्दी अध्यापकों तक भी पहुँचते हैं तो यह ऐतिहासिक उपलब्धि होगी। इस बीच सस्ता साहित्य मण्डल ने गिजुभाई की बाल कथाएँ पाँच खण्डों में प्रकाशित कर दी हैं।

हिन्दी को आज ऐसे साहित्य के संरक्षण की कितनी ज़रूरत है यह दोहराने की बात नहीं है। स्वतंत्रता आन्दोलन के उन्मेष में रचा गया बाल साहित्य आज विलुप्तप्राय हो चुका है। *बाल सखा* छापने वाली इंडियन प्रेस की हालत आज ऐसी भी नहीं है कि वह स्वयं अपनी किताबें फिर छाप सके। निरंकार देव सेवक के *धूप-छाया* और *दूध-जलेबी* जैसे मूल्यवान संग्रह इंडियन प्रेस के गोदाम से प्राप्त करना काफी कठिन काम है। इन पुस्तकों में संग्रहीत काव्य आज भी हमारे बच्चों को उपलब्ध नहीं है जबकि यह उन्हीं की विरासत है। *धूप-छाया* छपे तो कोई पैंतीस बरस बीत गए, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की *बतूता का जूता* और *महँगू की टाई* तो अभी हाल की घटनाएँ हैं और ये पुस्तकें भी आज उपलब्ध नहीं रह गई हैं। रमेशचन्द्र शाह की *गोलू के मामा* कहने को उपलब्ध हैं पर जब लेने जाना पड़े तो सच मालूम चलता है। *एक डर पाँच निडर*, जिसका ज़िक्र मैं पहले कर चुका हूँ, सोवियत संघ में आसानी से उपलब्ध है पर अपनी मूल भाषा हिन्दी में नहीं। जिस किसी भूले-भटके की जिज्ञासा ज़बरदस्ती करे उसे आत्माराम एण्ड सन्स के कर्मचारी एक धूल-भरे रैक में नबेरकर दिखा देते हैं। यह हालत जब हिन्दी के श्रेष्ठतम बाल साहित्य की है तो क्या आश्चर्य कि औसत हिन्दी-भाषी बालक चार पूरे वाक्य ठीक से नहीं बोल पाता। आखिर हमीं ने उसे अपनी भाषा की विरासत से वंचित किया है।

आज़ाद बच्चे फिर जन्म लेंगे

आज़ाद बच्चे फिर जन्म लेंगे

पश्चिमी समाजों में जितने परिवर्तन पिछली दो सदियों के दौरान हुए, उतने से अधिक परिवर्तन भारत के समाज में पिछले पचास वर्षों में हुए हैं। असहयोग आन्दोलन से लेकर मौजूदा दशक की शुरुआत तक के दौर में हमारे सामाजिक सम्बन्धों की बुनावट कई स्तरों पर बदली है जिनमें से एक स्तर बच्चों और बड़ों के सम्बन्धों का है। इस स्तर पर हुए फेर-बदल को पहचानने का एक माध्यम पिछली अर्ध-शताब्दी का हिन्दी बाल साहित्य है। सड़क पर खुलने वाली खिड़की में बैठकर लगातार बदलते दृश्यों का जायज़ा लेने जैसा आनन्द आज़ादी के दो-तीन दशक पहले से लेकर आज़ादी के दो-तीन दशक बाद तक की बाल पत्रिकाएँ और पुस्तकें पढ़कर लिया जा सकता है।

1930 तक हिन्दी की दो महत्वपूर्ण बाल पत्रिकाएँ *बालक* और *बाल सखा* काफी लोकप्रियता हासिल कर चुकी थीं। *बालक* की शुरुआत 1916 में रामलोचन शरण शर्मा ने की थी। स्कूल में पढ़ाते-पढ़ाते उन्हें बच्चों के लिए कल्पनाशील किताबों की कमी महसूस हुई और इस कमी को पूरा करने के लिए उन्होंने पटना में एक छोटा-सा प्रकाशन शुरू किया। *बालक* की शुरुआत के एक वर्ष के भीतर *बालसखा* का प्रकाशन इलाहाबाद की इंडियन प्रेस से आरम्भ हुआ। यह गौरवशाली प्रकाशन संस्था अपनी साहित्यिक पत्रिका *सरस्वती* में हिन्दी के शीर्षस्थ लेखकों और कवियों को प्रकाशित कर रही थी। *बालक* और *बालसखा* दोनों के सम्पादक बच्चों का साहित्य छापने को एक गम्भीर साहित्यिक प्रयास मानते थे। समाज में बच्चों के उत्कृष्ट साहित्य की भूमिका और ऐसे साहित्य के सम्पादन व प्रकाशन की चुनौतियाँ वे अच्छी तरह समझते थे।

चौथे दशक का हिन्दी लेखक साहित्य की रचना को एक आत्मविश्वासी

और अपनी सांस्कृतिक धरोहर से परिचित समाज के निर्माण का माध्यम मानता था। देशी संस्कृति में गर्व और आत्मनिर्भरता की भावना से ओत-प्रोत साहित्य देश की आज़ादी के संघर्ष में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। आज़ादी की लड़ाई एक जनसंघर्ष का रूप ले चुकी थी, हालाँकि अभी बहुत से लोगों के मन में आज़ाद भारत का सपना स्पष्ट न था। बाल साहित्य में आज़ादी के संघर्ष का माहौल अकेले, अडिग और आत्मविश्वासी बच्चों के चित्रण में उभरा।

ईदगाह

बच्चे की इस छवि का सबसे साफ अंकन प्रेमचन्द की "ईदगाह" कहानी में मिलता है जो 1933 में पहली बार छपी थी। हामिद नाम का एक गरीब मुस्लिम लड़का ईद के मेले से घर वापस आते समय धनी पड़ोसियों से वाद-विवाद में फँस जाता है। इन पड़ोसियों ने अपने पैसे मिट्टी के खिलौने खरीदने में खर्चे हैं; हामिद ने अपने इने-गिने तीन पैसे लोहे का चिमटा खरीदने में। उसकी इस पसन्द पर बच्चे उसे चिढ़ाते हैं। हामिद का तर्क है कि चिमटा मिट्टी के उस डाक्टर से जो ज़रा-सी नमी बर्दाश्त नहीं कर सकता, और उस सिपाही से जो हमला नहीं कर सकता, बेहतर है। घर पहुँचते-पहुँचते हामिद अपने धनी व घमण्डी साथियों से यह मनवा लेने में सफल हो जाता है कि खिलौनों के मामले में उनकी पसन्द मूर्खतापूर्ण थी। हामिद की विजय तब और पक्की हो जाती है जब घण्टे भर में यह खबर गाँव में फैलती है कि छोटे भाई-बहनों से हुई लड़ाई में सारे खिलौने क्षत-विक्षत हो गए हैं। दूसरी तरफ हामिद की बूढ़ी दादी यह सुनकर अपने आँसू नहीं सम्भाल पाती कि चिमटा दादी की उँगलियों को रोटी पलटते वक्त जलने नहीं देगा।

हामिद का यह भरोसा कि उसका निर्णय न केवल सही था बल्कि औरों के निर्णयों से ज़्यादा अच्छा था, स्वतंत्रता के पहले लिखे गए साहित्य के बाल चरित्रों की एक आम विशेषता थी। और यह विशेषता लड़कों तक ही सीमित नहीं थी। सुदर्शन की कहानी "सबसे अच्छा बस्ता" में यशोदा नाम की एक लड़की अपने खूबसूरत बस्ते को इसलिए उधेड़ देती है ताकि वह सड़क पर पड़ी बेघरबार बुढ़िया के घावों को ढाँप सके। यशोदा का बस्ता उसकी माँ ने खूब मेहनत करके इस उम्मीद में बनाया था कि यशोदा स्कूल के सबसे अच्छे बस्ते का इनाम जीतेगी। यशोदा को बस्ते के बगैर स्कूल आते देखकर उसकी अध्यापिका नाराज़ होती है। पर जब अध्यापिका

को मालूम पड़ता है कि यशोदा ने बस्ते का क्या किया, तब वह निस्संकोच यशोदा को बस्ते की प्रतियोगिता की विजेता घोषित कर देती है।

विवेकवान बाल चरित्र

स्वाधीनता संघर्ष के दौरान लिखी गई असंख्य कहानियों और कविताओं में हमारी भेंट ऐसे बच्चों से होती है जो बड़ों की सलाह या सहायता पर निर्भर नहीं हैं। ये बाल चरित्र अपने विवेक के अनुसार चलते हैं और ज़रूरत पड़ने पर बड़ों से उलझने में संकोच नहीं करते। राघवप्रसाद सिंह की एक कविता में बालक गणेश अपने महाशक्तिवान पिता शंकर से कहता है:

मैं बालक हूँ आप बड़े हैं,
बल में कितने बढ़े-चढ़े हैं।
लेकिन कुछ परवाह नहीं है,
डर सकता क्या वीर कहीं है।

यह कविता 1932 में हिन्दुस्तानी बुक डिपो, लखनऊ से प्रकाशित और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित कक्षा तीन व चार की पाठ्य पुस्तकों में शामिल थी।

बच्चों की लोकप्रिय पत्रिका *वानर* के 1933 के एक सम्पादकीय में चेतावनी दी गई थी कि बच्चे ऐसे प्रार्थना गीतों में विश्वास न करें जिनमें बच्चों को असहाय, कमज़ोर और ईश्वर की कृपा पर आश्रित बताया गया हो। बच्चे की दीनतापूर्ण छवि, जो भारत समेत कई समाजों में लम्बे समय से प्रचलित रही है, चौथे और पाँचवें दशक के बाल साहित्य लेखकों को स्वीकार नहीं थी। वे बचपन की मुक्ति को समाज की मुक्ति की तैयारी और शर्त मानते थे।

बच्चे का यह बिम्ब अधिक दिन नहीं टिक सका। स्वाधीनता संघर्ष की सफल समाप्ति होने तक प्रकाशन व्यवसाय में नई प्रवृत्तियाँ उभरने लगी थीं। आदर्श की धुन में शुरू किए गए प्रकाशन गृह बड़े स्तर पर उत्पादन और वितरण में समर्थ धनी संस्थानों की स्पर्धा में डूबने लगे। बाल पत्रिकाओं और पुस्तकों का प्रकाशन प्रान्तीय नगरों से महानगरों की ओर खिसकने लगा। सातवें दशक की शुरूआत तक कई पुराने प्रकाशन गृह बन्द हो चुके थे या रोटी की खातिर सिर्फ पाठ्य पुस्तकें छापने में समर्थ

रह गए थे। उनकी सांस्कृतिक भूमिका बड़ी प्रकाशक कम्पनियों, रेडियो, सिनेमा और अन्ततः दूरदर्शन ने छीन ली।

सांस्कृतिक चेतना का बदलाव

प्रकाशन व्यवसाय में परिवर्तन के साथ-साथ ग्राहकों की सांस्कृतिक चेतना भी बदली। आज़ादी के पहले का बाल साहित्य मुख्यतः प्रान्तीय नगरों के मध्यम वर्ग में पढ़ा जाता था। सांस्कृतिक रूप से आश्वस्त यह वर्ग देशी जीवन शैली और भाषा की हिफाज़त और सेवा करना अपना कर्त्तव्य मानता था। इलाहाबाद, लखनऊ और पटना जैसे शहरों के मध्यम वर्ग के इस चरित्र पर आज़ादी के तुरन्त बाद के वर्षों में कई तरह के दबाव पड़े। राजनीति, संचार और शिक्षा सभी क्षेत्रों में हावी हो रही महानगरीय संस्कृति ने प्रान्तीय मध्यम वर्ग की सांस्कृतिक वरिष्ठता को चुनौती दी। इस द्वन्द्व में सामाजिक व्यवहार और चिन्तन के नेतृत्व की भूमिका प्रान्तीय मध्यम वर्ग के हाथ से निकल गई। सांस्कृतिक सुरक्षा के कुछेक द्वीप अवश्य इधर-उधर रह गए, पर छोटे शहरों की संस्कृति ने महानगरों के नवधनिक वर्गों की प्रभुसत्ता के आगे घुटने टेक दिए।

इन परिवर्तनों का बच्चों के जीवन और साहित्य पर गहरा असर पड़ा। महानगरों के नवधनिक मध्यम वर्ग की महत्वाकांक्षाएँ सत्ता की राजनीति और पूँजीवादी अर्थनीतियों का आश्रय पाकर तेज़ी से बढ़ीं जिसके परिणामस्वरूप बच्चों के लालन-पालन और विकास के प्रतिमान बदले। प्रतियोगिता की भावना और उसे पुष्ट करने वाले मूल्यों पर शैशवावस्था से बल दिया जाने लगा। बच्चों पर इस बात का दबाव डालना एक फैशन बन गया कि वे जल्दी से जल्दी पढ़ना-लिखना सीखें और दूसरों को पीछे छोड़ दें। सोचने के तरीकों, बातचीत और बर्ताव सभी में यह आशा की जाने लगी कि बच्चा एक नन्हे वयस्क की तरह दिखे।

बदलते प्रतिमान

बच्चों के सामाजिक व्यवहार के इन बदलते प्रतिमानों को फैलाने में बाल साहित्य की स्पष्ट भूमिका रही है। आज़ादी के पहले का बाल साहित्यकार दुनिया को बच्चे की नज़र से देखने की कोशिश करता था; आज का बाल साहित्य लेखक बच्चे को बड़े की कसौटियों पर तौलता है। यह परिवर्तन बाल साहित्य में चरित्र चित्रण, विधा के चयन और प्रस्तुति के स्तरों पर प्रकट हुआ है। चरित्र के स्तर पर "सामान्य" की जगह "विशिष्ट" ने ले

ली है। कोई आश्चर्य नहीं कि जीवनी प्रकाशकों और लेखकों दोनों की मनपसन्द विधा बन गई है। इसलिए राजनीति, धर्म और संस्कृति के प्रसिद्ध व्यक्तियों की जीवनियों के अलावा पौराणिक चरित्रों के आख्यान बाल साहित्य की सामग्री के तौर पर इस्तेमाल किए जा रहे हैं।

जीवनी की विधा का सबसे ज़्यादा बिकने वाला रूप चित्रकथा (कॉमिक्स) का है, यद्यपि सादे रेखाचित्रों वाली किताबें भी आसानी से उपलब्ध हैं। "अमर चित्रकथा" माला ने बाल साहित्य की बिक्री के पिछले सारे रिकॉर्ड तोड़ दिए हैं। इस चित्रकथा के ग्राहकों में दुनिया भर में फैले प्रवासी भारतीयों के बच्चे शामिल हैं। चित्रकथा की देखादेखी ढेरों दूसरी चित्रकथाएँ धड़ल्ले से छपने और बिकने लगी हैं। करोड़ों की संख्या में छप रहे रंगीन चौखटों में बच्चे स्वयं अपनी झलक कभी-कभार ही देख पाते हैं क्योंकि कथानक का फोकस हमेशा किसी बड़े पर होता है। बच्चे जब कभी दिखाई देते भी हैं तो एक कोने से झाँकते, किसी बड़े का प्रेरणादायक करतब देखते हुए।

इधर के दस-पन्द्रह वर्षों में अनेक ऐसी कहानियाँ और कुछ उपन्यास लिखे गए हैं जिनमें केन्द्रीय भूमिका तो एक बच्चे या बच्चों के समूह ने निभाई है, लेकिन समूचा घटनाक्रम किसी वयस्क की निगाह से प्रस्तुत किया गया है। ऐसी रचनाओं का बाल नायक एक फार्मूला चरित्र होता है। यह चरित्र किसी अभिभावक, शिक्षक या अन्य किसी हितैषी की धारणाओं के मुताबिक व्यवहार करता है। शान्ति भटनागर के उपन्यास *माँ का आँचल* में रोहित अपने दुश्चरित्र दोस्तों के साथ शहर भाग जाता है जहाँ उसे गरीबी, अपमान और तरह-तरह की धमकियाँ सहनी पड़ती हैं। भिखारी की तरह उसका इस्तेमाल करने के लिए उसे अपाहिज बनाने की तैयारी की जाती है। तभी सौभाग्य और साहस के बल पर वह बच निकलता है और घर लौट आता है। पूरे उपन्यास में रोहित एक गत्ते का मॉडल बना रहता है जिसकी उपयोगिता माता-पिताओं के आम डरों और मूल्यों की प्रस्तुति के माध्यम के रूप में है। वह उपन्यास का नायक भले ही हो, एक चरित्र नहीं बन पाता। उसका अंकन केवल इस दृष्टि से किया गया है कि उसे और उस जैसे लड़के-लड़कियों को कैसा बनना चाहिए, कैसा नहीं बनना चाहिए।

बच्चे और बड़े

आज प्रकाशित होने वाली बाल पत्रिकाओं पर नज़र दौड़ाएँ तो एक नहीं

दर्जनों रोहित मिल जाएँगे। आज बिक रहे बाल साहित्य में चित्रित बच्चा नन्हा शैतान हो सकता है, नन्हा सैनिक और नन्हा गाँधी भी, पर एक सामान्य बच्चे जैसा वह शायद ही कभी दिखता हो। प्रायः उसका सारा व्यक्तित्व किसी एक गुण में समाया रहता है। जब वह अपने हमउम्र साथियों के बीच होता है उस समय वे भी उसकी एकाग्र साधना में हिस्सा लेते हैं। वह उनसे एक ज़िम्मेदार बड़े की तरह बर्ताव करता है। अक्सर वह स्वयं को और अपने साथियों को चेतावनी देता है कि एक भी बचकाना कदम घातक होगा। वह बड़ों के योग्य समझे गए काम करता है और अन्त में बड़ों की वाहवाही पाकर दम लेता है।

रामकुमार भ्रमर के उपन्यास *डाकुओं के बीच* में चन्दन नाम का लड़का हज़ार डाकुओं के गिरोह का हृदय परिवर्तन करने के इरादे से निकलता है। कुत्ते को साथ लेकर वह कई खतरे उठाता है और आखिरकार डाकुओं के मुखिया पर अपनी कड़ी लगन और पवित्र भावना की छाप छोड़ने में सफल होता है। हृदय परिवर्तन के क्षण में दस्युराज सोचता है कि कहीं यह लड़का भगवान का अवतार तो नहीं था।

सपाट आदर्शवादिता

यह संयोग मात्र नहीं है कि सपाट आदर्शवादिता में पगे बाल चरित्रों की लोकप्रियता ऐसे समय में ज़ोर पकड़ रही है जब हिन्दी प्रान्तों के समाज का एक बड़ा हिस्सा धर्म और मिथक पुनरुत्थान की लहर में है। इस लहर की तह में आर्थिक ताकत और सांस्कृतिक सुरक्षा की प्यास छिपी है। प्यास को शान्त करने वाले प्रतीक मध्यम वर्ग के वास्तविक बच्चों के जीवन में दुर्बल हैं और यही कारण है कि आज बाल साहित्य में बच्चे का चित्रण मिथकों और आदर्श चरित्रों के माध्यम से हो रहा है। यदि मिथक में विश्वास करना हो तो हम आज आई लहर के उतार के साथ साहित्य में असली बच्चों के पुनर्जन्म की आशा कर सकते हैं। कालचक्र का मिथक – जो उत्थान और विखण्डन के बाद पुनर्जन्म का आश्वासन देता है – हमारे समाज की ही रचना है।

निरीह तानाशाहः भारत का अध्यापक

निरीह तानाशाहः भारत का अध्यापक

एक खास किस्म के कौशल के रूप में अध्यापन को हमारे यहाँ बहुत पहले से मान्यता प्राप्त रही है, पर एक धन्धे के रूप में अध्यापन अभी कोई डेढ़ सौ बरस से उभरा है। बड़े पैमाने पर शिक्षा का विस्तार और शिक्षक से व्यक्तिगत रूप से अपरिचित छात्रों की बड़ी-बड़ी कक्षाएँ आधुनिक युग की घटनाएँ हैं जिनकी शुरुआत उन्नीसवीं सदी के साथ हुई। स्कूल तो पहले भी थे पर वे कई अर्थों में एकदम अलग थे। एक बड़ा फर्क, जो उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में पड़ा, पाठ्यक्रम और पाठ्य सामग्री में था। इस फर्क ने अध्यापक की आत्मछवि और भूमिका पूरी तरह बदल डाली।

उन्नीसवीं सदी के पहले अध्यापक अपने हिसाब से यह फैसला करता था कि बच्चों को क्या पढ़ाना है और कैसे पढ़ाना है। उसे सिर्फ परम्परा का सहारा था। एक हद तक वह समाज की ज़रूरतों के हिसाब से भी चलता था। अध्यापक को यह छूट थी कि वह बच्चों की क्षमता और योग्यता को देखते हुए जल्दी या धीरे पढ़ाए। संगीत और नृत्य जैसी कलाओं के पारम्परिक शिक्षण में यह प्रवृत्ति आज तक देखी जा सकती है। ऐसा नहीं है कि पारम्परिक अध्यापन बाल केन्द्रित था, पर शिक्षक की स्वायत्तता पर नौकरशाही का फँदा नहीं पड़ा था, जो उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में औपनिवेशिक व्यवस्था ने डाला।

इस घटना के बाद अध्यापक की सारी स्वतंत्रता जाती रही। उसे यह निर्णय करने का अधिकार न रहा कि क्या पढ़ाना है, न यह कि कैसे पढ़ाना है। परम्परा का प्रभाव भी जाता रहा। नौकरशाही द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तकों का बोलबाला हो गया। अधिकारियों ने यह भी तय कर दिया कि पाठ्यक्रम कितने समय में खत्म करना है। अब शिक्षक अपने छात्रों की क्षमता देखकर पढ़ाने की रफ्तार में कमी-बेशी नहीं कर

सकता था। एक और नई अवधारणा सामूहिक इम्तिहान की चल निकली। विद्यार्थी के काम से शिक्षक के सन्तोष का महत्व न रहा। किसी और द्वारा ली गई परीक्षा सर्वोपरि हो गई।

शिक्षक अब मामूली हैसियत का सरकारी कर्मचारी बन गया। उसके सुपुर्द ऐसे सरकारी काम भी किए जाने लगे जिनका शिक्षा से कोई सम्बन्ध न था। वह गाँव का पोस्टमास्टर, जनगणना का सर्वेक्षक, पाठ्य पुस्तकों का वितरक सभी कुछ हो सकता था। (प्रेमचन्द ने 1909 में लिखा था: "डाकखाने का काम रोज़-ब-रोज़ ज़्यादा होता जाता है... देहात के ज़मींदार और काश्तकार जिस वक्त फुर्सत पाते हैं, मुदर्रिस के पास पहुँच जाते हैं। और गरीब मुदर्रिस को उनकी दिलजोई करते ही बन पड़ती है।") इन विविध भूमिकाओं ने राज्य के साथ शिक्षक का सम्बन्ध लगातार पुख्ता किया। पर इससे शिक्षक की पदवी या ताकत में कोई वृद्धि नहीं हुई। इसके दो कारण थे।

एक कारण यह था कि स्वयं अपने ही व्यवसाय के भीतर अध्यापक की स्थिति मज़बूत नहीं थी। उसके सिर पर नौकरशाही की पाँत सवार थी। यह पाँत सब-डिप्टी इंस्पेक्टर से शुरू होती थी जिसे स्कूल का दौरा करने और शिक्षक के काम पर टिप्पणी लिखने का अधिकार था। सबसे ऊपर या अन्त में था "डाइरेक्टर ऑफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन"। शिक्षा विभाग की इस व्यवस्था में शिक्षक का स्थान सबसे नीचे और निरीह था। इसी हिसाब से उसका वेतन भी बहुत कम रखा गया था। बीसवीं सदी के शुरू में एक प्राइमरी शिक्षक का वेतन सब-डिप्टी इंस्पेक्टर के वेतन से दस गुना कम था। कई इलाकों में यह फर्क और भी ज़्यादा था।

शिक्षक की कमज़ोर हैसियत का दूसरा कारण था अन्य नए धन्धों के मुकाबले स्कूली अध्यापन की धूमिल छवि। अँग्रेज़ी शिक्षा के विकास के साथ-साथ जो नए "प्रोफेशन" हमारे समाज में उभरे, स्कूल में अध्यापन उनसे स्पर्धा नहीं कर सका। कहाँ डाक्टर, वकील और इंजीनियर, कहाँ स्कूल का अध्यापक। स्कूल अध्यापन की कमज़ोर सामाजिक छवि की एक मुख्य वजह तनख्वाह थी। साथ में एक वजह यह भी थी कि शिक्षक बनने के लिए कानून या डॉक्टरी की पढ़ाई जैसा बहुत गूढ़ प्रशिक्षण अनिवार्य नहीं था। दरअसल अध्यापकों की भर्ती के लिए ट्रेनिंग को कभी एक अनिवार्य योग्यता माना ही नहीं गया। जो ट्रेनिंग थी भी उसमें कोई बहुत गहन ज्ञान या सघन अभ्यास नहीं था, और आज तक नहीं है।

जितना है उसे गम्भीरता से बहुत कम अध्यापक लेते हैं।

अध्यापक की सामाजिक छवि आज तक नहीं बदली है। इधर के वर्षों में तनख्वाह के मामले में थोड़ा-बहुत सुधार हुआ है, पर प्राइमरी शिक्षक की तनख्वाह अब भी बहुत मामूली है। वेतनमानों में सुधार से अध्यापन के धन्धे की सामाजिक छवि इसलिए भी नहीं निखरी कि अन्य शिक्षित व्यवसायों की आर्थिक हैसियत बहुत तेज़ी से बढ़ी। साथ में चार्टर्ड एकाउंटेंसी, मैनेजमेंट और बैंक से जुड़े नए-नए कमाऊ धन्धे भी उभरे।

अधिकारियों के सामने शिक्षक की असहायता भी आज तक नहीं बदली है। इतना अवश्य है कि शिक्षकों के संगठनों ने प्रत्यक्ष दमन के खिलाफ संघर्ष करके कुछ कामयाबी हासिल की है। वेतन बढ़वाने में भी उनका संघर्ष थोड़ा-बहुत सफल हुआ है। छुटभैये अधिकारी आज शिक्षक को सीधे-सीधे डराने या परेशान करने में कुछ संकोच करते हैं। पर ताकत आज भी उनके पास इतनी है कि छोटे से छोटे काम के लिए भी वे रिश्वत या दासता की उम्मीद कर सकते हैं। कई प्रान्तों में प्रति वर्ष लाखों रुपयों की घूस शिक्षकों के तबादले कराने या उन्हें रद्द कराने के लिए दी जाती है। अधिकारी जब भी स्कूल पहुँचता है, उसका स्वागत ठीक किसी सामन्त की तरह किया जाता है।

स्कूलों में क्या पढ़ाया जाए, इस सम्बन्ध में सारे निर्णय नौकरशाही लेती है। यह एक स्थापित परम्परा है। सिर्फ इतना फर्क इसमें आया है कि अब एन.सी.ई.आर.टी. या केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा मण्डल जैसे अर्ध-नौकरशाह संगठनों के विशेषज्ञ पाठ्यक्रम तय करने में काफी बड़ी भूमिका निभाने लगे हैं। इस काम में अध्यापकों की भूमिका नगण्य है। यद्यपि प्रतीक के तौर पर दो-चार अध्यापक पाठ्यक्रम व मूल्यांकन समितियों में अवश्य रख लिए जाते हैं। अध्यापक संगठनों ने भी पाठ्यक्रम में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई है। अध्यापक और उनके संगठन यह मानकर चलते हैं कि पाठ्यक्रम बनाना या पाठ्य सामग्री जुटाना उनकी ज़िम्मेदारी नहीं है।

सरकारी तौर पर पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तक का अन्तर स्वीकारा जाता है, पर व्यवहार में पाठ्य पुस्तक ही लाखों अध्यापकों की निगाह में पाठ्यक्रम है। प्राइमरी और मिडिल स्तर पर ऐसे अध्यापक बिरले मिलेंगे जिन्होंने पाठ्यक्रम अपनी आँख से देखा हो। दूसरी तरफ पाठ्य पुस्तक तो हरेक बच्चे के पास होती है क्योंकि हमारी शिक्षा व्यवस्था में पाठ्य पुस्तक स्कूल को नहीं, बच्चों को खरीदनी होती है। बच्चों की प्रगति का मूल्यांकन

और वार्षिक इम्तिहान पाठ्य पुस्तक के आधार पर ही लिया जाता है। पाठ्य पुस्तक के रूप में नौकरशाही की ताकत स्कूल के जीवन में प्रतिदिन उपस्थित रहती है। पाठ्य पुस्तक कितनी ही खराब या अनुपयोगी हो, वह अनिवार्य है। कोई अन्य पाठ्य सामग्री कितनी ही कल्पनाशील ढंग से रची गई हो, पाठ्यक्रम में दर्ज उद्देश्य पूरे करती हो, और सारे महत्वपूर्ण कौशल सिखाती हो, फिर भी वह पाठ्य पुस्तक का स्थान नहीं ले सकती। अध्यापक पाठ्य पुस्तक से बँधा है क्योंकि वह नौकरशाही का गुलाम है।

इस शताब्दी के शुरू होने तक पाठ्य पुस्तक और परीक्षा हमारे देश के स्कूलों में अध्यापन को प्रभावित करने वाली दो शक्तियों के रूप में उभर चुकी थीं। औपनिवेशिक प्रशासकों ने पाठ्य पुस्तक का प्रयोग एक पैमाने के तौर पर किया था – शिक्षक की रफ्तार मापने के लिए। पाठ्यक्रम पर प्रशासन का दबदबा था। उसमें स्थानीय महत्व की सामग्री के लिए गुंजाइश नहीं थी। इसलिए अध्यापक यह ज़रूरी नहीं पाता था कि वह जानकारियों को स्थानीय प्रासंगिकता दे। इस बात की सूक्ष्म सम्भावना भी तब समाप्त हो गई जब छात्रों की निगाह पर इम्तिहान पूरी तरह हावी हो गया। औपनिवेशिक प्रशासन अध्यापक की निष्पक्षता पर विश्वास नहीं कर सकता था, अतः उसने केन्द्रीकृत इम्तिहानों का इन्तज़ाम किया। ये इम्तिहान एक ओर अँग्रेज़ी राज की "निष्पक्षता" के प्रतीक बने, दूसरी तरफ सामाजिक नियंत्रण के हथियार बने क्योंकि उनमें बहुसंख्य छात्रों को "फेल" घोषित करने की व्यवस्था थी। अध्यापक की भूमिका परीक्षा के लिए सही उत्तरों की तैयारी कराने वाले आदमी के तौर पर रह गई।

शिक्षण की संस्कृति एक बार स्थापित हो जाए तो फिर आसानी से नहीं बदलती। स्वतंत्रता मिली, पर औपनिवेशिक व्यवस्थाएँ अध्यापक के दैनन्दिन जीवन पर हावी रहीं। पाठ्य पुस्तक और परीक्षा का शक्तिशाली प्रभाव आज तक कायम है। इस प्रभाव के रहते अध्यापक की कल्पनाशीलता और सूझबूझ उभर ही नहीं सकती। उसे हर रोज़ यह डर सताता है कि नियत समय में पाठ्य पुस्तक पूरी होगी या नहीं। "कोर्स" से हटने पर अधिकारी की प्रताड़ना सहनी होगी। इस कारण अच्छे से अच्छा अध्यापक भी बच्चे के परिवेश और अनुभव जगत को कक्षा की पढ़ाई में लाते हुए घबराता है। वैसे भी उससे यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वह ज्ञान की रोचक पुनर्रचना करके बच्चों की जिज्ञासा जगाए। इसलिए वह अपना

सारा ध्यान कक्षा में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखकर निर्धारित ज्ञान बच्चों के गले उतारने पर लगा देता है।

इस प्रकार प्रशासन का दीन मातहत और समाज में बहुत मामूली हैसियत रखने वाला अध्यापक कक्षा का तानाशाह बन जाता है। अधिकारियों द्वारा आरोपित पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तक उस मंच का काम देते हैं जिस पर अध्यापक अपनी तानाशाही का नाटक खेलता है।

इस नाटक के दर्शक और शिकार बच्चे होते हैं जिन्हें यह नहीं मालूम होता कि उनका अध्यापक प्रशासकों की दृष्टि में एक निरीह प्राणी है। वे यह भी नहीं जानते कि जो ज्ञान वह अपने मुँह से दे रहा है उसे चुनने, नियोजित करने में उसकी कोई भूमिका नहीं थी। उनके लिए तो अध्यापक कक्षा में खड़ा दुनिया का सबसे शक्तिवान आदमी है जो उनसे जो चाहे करा सकता है, यहाँ तक कि शारीरिक पीड़ा भी पहुँचा सकता है। लाखों अध्यापक आए दिन ऐसा करते हैं।

हमारी समाज व्यवस्था में बच्चे और बड़े की दूरी और इस दूरी पर कायम की गई पारम्परिक सम्बन्ध रचना भी अध्यापक की तानाशाही भूमिका में सहयोग देती है। परम्परा कहती है कि बड़ा बच्चों से दोस्ताना या बराबरी का रिश्ता नहीं बना सकता। सवाल खड़े करने की आदत हमारी पारिवारिक संस्कृति में मान्य नहीं है। हम न तो बच्चे के प्रश्न सुनने के आदी हैं, न उसकी कल्पना की आज़ादी को आदर देते हैं। बच्चों के सामने खड़ा अध्यापक इस पारम्परिक मनोवृत्ति से मुक्त नहीं होता। प्रशिक्षण के दौरान सतही तौर पर सीखी गई बातें (जैसे बच्चे को सम्मान दो, उसकी जिज्ञासा उकसाओ) परम्परा-बोध को तोड़ नहीं पातीं।

यदि अपवादस्वरूप कोई अध्यापक छात्रों से मित्रता का रिश्ता बनाता है तो वह स्टाफ रूम में मज़ाक और तानेबाज़ी का पात्र बनता है। कोई आश्चर्य नहीं है कि खेल, नाटक और हस्तकलाएँ सिखाने वाले अध्यापकों को स्कूलों में गम्भीरता से नहीं लिया जाता। ये कलाएँ अध्यापक को बच्चों के करीब लाती हैं और यही बात दूसरे अध्यापकों को नागवार गुज़रती है।

भारतीय कक्षाओं में छात्रों को अध्यापक से सवाल पूछते देखना एक दुर्लभ अनुभव है। अव्वल तो शिक्षक छात्रों के प्रश्नों के लिए समय ही नहीं छोड़ता। समय हुआ तो उसमें यह अपेक्षा की जाती है कि छात्र उन चीज़ों को दोहराने को कहेंगे जिन्हें वे पहली बार में समझ नहीं पाए हैं। प्रशिक्षण

के दौरान अध्यापक को बताया जाता है कि वह प्रश्नों के ज़रिए यह जान सकता है कि छात्र पाठ को ठीक-ठीक समझ रहे हैं या नहीं। प्रायः पाठ के अन्त में अध्यापक यह पूछते सुने जा सकते हैं: "कोई चीज़ साफ न हुई हो तो बताओ?" आशय यह होता है कि छात्र का प्रश्न किसी बात को अस्पष्ट समझने से उपजता है। अध्यापक के विचार को चुनौती देने या पाठ पर मूलभूत सवाल खड़े करने की नौबत ही नहीं आती। छात्र की जिज्ञासा थोड़ी-सी भी मौलिक हुई तो आम शिक्षक उससे बचने का प्रयास करता है। यह स्थिति स्कूलों में ही नहीं, विश्वविद्यालय तक फैली है। असली बात यह है कि अध्यापक और छात्र दोनों ही पाठ्यक्रम में निर्धारित ज्ञान को अन्तिम सत्य समझने के आदी हैं। वे मानते हैं कि सारे मौलिक सवालों के उत्तर खोजे जा चुके हैं और पाठ्य पुस्तकों में दर्ज़ हैं। इस मान्यता के कारण ईमानदारी से पूछे गए प्रश्न या शोध का हमारी शिक्षा व्यवस्था में कोई स्थान नहीं बन सका है।

समृद्ध युवाओं की सभ्यता

समृद्ध युवाओं की सभ्यता

दिल्ली विश्वविद्यालय की एक संस्था में वार्षिकोत्सव की दोपहर को दो बजे से पाश्चात्य संगीत का कार्यक्रम हो रहा था। चार बजे के करीब "सैवेज रोज़" (जंगली गुलाब) नामक एक "बीट" की प्रस्तुति आरम्भ हुई। छः बजे एकांकी प्रतियोगिता शुरू होनी थी लेकिन संगीत था कि रुकने का नाम ही नहीं लेता था। मंच पर कभी लाल रोशनी होती, तो कभी हरी। उसकी कौंध में सोलह-सत्तरह वर्ष का गायक आता और पास बजते तेज़ संगीत की लय में अपना शरीर लपलपाते हुए फटी आवाज़ में अँग्रेज़ी गीत की पंक्तियाँ गाकर चला जाता। अँधेरे में बैठे श्रोताओं में से अनेक संगीत की दुनिया में डूबने की खातिर मादक पदार्थों का सेवन कर रहे थे जिनकी गन्ध हवा में फैली हुई थी। साढ़े सात बजे के आसपास अचानक मंच पर अँधेरा हो गया। श्रोताओं में थोड़ी परेशानी फैली क्योंकि संगीत तुरन्त रुक गया। कलाकार चुपचाप रोशनी के आने का इन्तज़ार करते रहे।

दस-पन्द्रह मिनट बीते। एकांकी प्रतियोगिता के आयोजकों का अधैर्य और आग्रह लगातार बढ़ता जा रहा था। आखिरकार कलाकारों ने अनमने हाथों से अपने यंत्र समेटना शुरू किया। कुछ देर बाद रोशनी आने तक वे मंच के पीछे स्थित दरवाज़े से निकलना शुरू कर चुके थे। उधर श्रोताओं में अभी तक संगीत का नशा बाकी था। धीरे-धीरे जब कुछ लड़के-लड़कियाँ अपने भारी कोटों में हाथ डालकर जाने लगे, एक श्रोता पुकार उठा, "*वी वॉन्ट मोर म्यूज़िक*" (हमें और संगीत चाहिए)। उसकी आवाज़ में आवेश नहीं था, बेबसी और दया की माँग थी। वह उस सभ्यता की एक मुद्रा थी जिसके प्रतिनिधि कलाकार उस समय मंच के पीछे का अव्यवस्थित संसार अपने लड़खड़ाते पैरों से बचाते हुए बाहर फैली दिसम्बर की ठण्ड में प्रवेश कर रहे थे।

क्या समृद्ध परिवारों के युवाओं का जीवन एक अलग सभ्यता है? यह प्रश्न उन लोगों को बेकार लग सकता है जो मानते हैं कि भारत की शिक्षित नई पीढ़ी देश की मुख्यधारा से कट गई है। इन लोगों में एक तरफ ऐसे लोग हैं जो नई पीढ़ी को गुमराह मानते हैं और दूसरी तरफ वे जो अपनी अधूरी प्रगतिशीलता को पूरा करने की आस्था बच्चों और युवाओं में बिठाकर स्वयं परम्परागत जीवनयापन में व्यस्त हैं। इन दो तरह के लोगों में एक जैसी बात यह है कि वे दोनों नई पीढ़ी के बारे में अपनी समझ बढ़ाने की कोई ज़रूरत नहीं देखते। उनकी बातचीत में शास्त्रीयता की गन्ध आती है: "नई पीढ़ी हमेशा विद्रोही होती है," "हमारे बच्चे परम्पराओं को सहज नहीं स्वीकारेंगे" आदि। वे यह देख सकने में असमर्थ रहते हैं कि जिस तरह सम्पूर्ण समाज या जीवन को समझाना केवल निजी अनुभव अथवा किसी धार्मिक ग्रन्थ या लोकप्रिय उपन्यास के सहारे सम्भव नहीं है, उसी तरह युवा जीवन को समझने के लिए साप्ताहिक पत्रिकाओं में प्रकाशित परिचर्चाएँ पर्याप्त नहीं हैं। आर्थिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक तत्व जिस प्रकार सम्पूर्ण समाज के जीवन को प्रभावित करते हैं, उसी तरह युवा जीवन को भी। अतएव उसके सम्बन्ध में कोई मनपसन्द या सुविधाजनक धारणा बना लेना बहुत विवेकसम्मत नहीं कहा जा सकता।

पढ़े-लिखे युवक और युवतियों के जीवन के सम्बन्ध में आम राय तय करने वाले साधनों में विज्ञापन, लोकप्रिय पत्रिकाएँ तथा सिनेमा प्रमुख हैं। सामान्य तौर पर इन तीनों का सम्बन्ध धनवान परिवारों के युवाओं से है। पौरुष का जीता-जागता विज्ञापन बना हुआ सिगरेट पीता या अपनी मित्र के साथ समुद्र तट पर मस्ती करता या नए डिज़ाइन के कपड़े में सजकर सिर्फ खड़ा हुआ युवक समाज के उसी वर्ग का सदस्य होता है जिसकी युवा गृहणियाँ अपनी किशोरी कन्या के लिए ऊन की "मैक्सी" बुनकर गुलाबी धूप में पनीर के हलुए का मज़ा लेती हैं। अधिकतर हिन्दी फिल्मों का यथार्थ भी इसी किस्म के जीवन से सम्बन्धित होता है। थोड़ा-बहुत आश्चर्य इस बात पर कभी-कभी होता है कि बहुतायत से छपने वाला आम आदमी का साहित्य भी प्रायः उन मुहावरों तथा विशेषणों का प्रयोग करता है जो इस वर्ग से जुड़े हैं।

प्रचार के साधनों का धन्धा जिस युवा जीवन को अंकित करता है, उसके जीवित प्रतिनिधि महँगे होटलों, अमीर बस्तियों में स्थित सिनेमाघरों तथा विश्वविद्यालय में हरी घास पर दिखाई देते हैं। पोशाक के मामले में वे सब अपने चित्रपट या विज्ञापन रूप जैसे दिखें, यह ज़रूरी नहीं। खास तौर से

अपने कॉलेज या विभाग में उनकी पोशाक काफी क्रान्तिकारी रूप व गति से बदलती रहती है। कभी महँगी और करीने से पहनी गई साड़ी या नई काट की पैण्ट, तो कभी खुरदरे और सस्ते जीन की पैण्ट और कपड़े के जूते – रिवाज़ और सादगी के बीच प्यार का उतार-चढ़ाव सदैव बना रहता है।

हिन्दी तथा अँग्रेज़ी की लोकप्रिय पत्रिकाओं में युवा जीवन का पिछले पाँच वर्षों में जैसा उपयोग हुआ है, उसने वयस्क समाज के मन में दो तरह के भ्रम पैदा किए हैं। पहली तरह का भ्रम यह है कि सस्ते कपड़े और बिखरे बाल भारत में हिप्पीवाद के प्रतीक हैं; दूसरा यह है कि कपड़ों की सादगी युवा मन में सामाजिक मूल्यों के परिवर्तन की सूचक है। ये दोनों निष्कर्ष भ्रम हैं क्योंकि इन तक पहुँचने के पूर्व यह नहीं सोचा गया है कि सादे पहनावे में लैस बेफिक्र दिखने वाला भारतीय युवा समाज के सबसे समृद्ध तथा शक्तिशाली वर्ग का सदस्य है और अपने इस मूल रूप में वह उन तीन शक्ति स्रोतों – धन, वर्ग और अँग्रेज़ी – के प्रति अधिक आत्मीय है जो उसे बहुरूपी बनने की आज़ादी देते हैं बनिस्बत अपने सस्ते आवरण के।

इन युवाओं के अभिभावकों में सबसे ज़्यादा संख्या एक-दो पीढ़ियों से फलते-फूलते किसी किस्म के व्यापार में लगे लोगों की है। बाकी वे हैं जो पुश्तैनी समृद्धि के मालिक हैं। थोड़े-बहुत ऐसे भी हैं जो एक ही पीढ़ी में समृद्ध बने हैं व नौकरशाही के ज़रिए प्रतिष्ठा तथा सुविधा का उपयोग कर रहे हैं। इन अभिभावकों की सन्तान अपनी शिक्षा के लिए ऐसे विषयों का चुनाव करती है जो मौजूदा हालात में समृद्धि की ओर अग्रसर करने के लिए जाने जाते रहे हों। इनमें वाणिज्य, व्यापार, प्रबन्ध तथा अर्थशास्त्र का स्थान सर्वोपरि है। अन्य विषयों में समाजशास्त्र, चारों प्रमुख विज्ञान तथा अँग्रेज़ी प्रमुख हैं। एक विषय के तौर पर अँग्रेज़ी का जो महत्व है, उससे कहीं अधिक भाषा के रूप में है। समृद्ध युवजनों के लिए वह सामान्य बोलचाल की भाषा है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वह साफ-सुथरे ढंग से बोली जाती है अथवा यह कि उसमें अभिव्यक्ति की विशेष क्षमता होती है। सचाई यह है कि पब्लिक स्कूलों में जैसी अँग्रेज़ी यह युवा वर्ग अपने बचपन में सीखकर आता है, वह सरल तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति और स्वाभाविक उच्चारण की जगह लाग-लपेट और कृत्रिम लोच से मण्डित होती है। वह इस्तेमाल करने वाले को एक खास तरह का मुख-सुख देती है और शायद इसके बदले में स्पष्ट सोच और अभिव्यक्ति का सामर्थ्य छीन लेती है।

सामान्य धारणा है कि भारत का समृद्ध युवा वर्ग पश्चिम की नकल करता है। इस धारणा का आधार शायद पश्चिमी जीवन के बारे में औसत अज्ञान तथा पश्चिम हो आने वाले भाग्यशालियों द्वारा लाई गई ज्ञान सामग्री का अपने पूर्वाग्रहों के मुताबिक इस्तेमाल करने की व्यापक प्रवृत्ति है। वरना ऐसा तथ्य ढूँढ निकालना काफी कठिन है जो भारत के समृद्ध युवा जीवन और पश्चिम के बीच साम्य दिखाता हो। जहाँ तक कपड़ों का ताल्लुक है, विदेशी विश्वविद्यालयों के युवक व युवतियाँ न तो सजे-बने साहबों या विज्ञापितों की तरह रहते हैं, न ही अलमस्त फकीरों की तरह। ज़्यादातर विद्यार्थी चूँकि अपने श्रम से कमाकर पढ़ते हैं, इस कारण उनके वस्त्र एक मुद्रा या घोषणा नहीं बनते। उच्च शिक्षा की चुनौती पश्चिम में प्रायः इतनी गम्भीर होती है कि सामान्यतः कोई पहनावे, वाहन पर सैर-सपाटे या हरी घास पर लम्बे विवादों में इतना व्यस्त नहीं रह सकता जितना भारत के ऐश्वर्यशाली युवा रह लेते हैं।

आज के इन भारतीय युवाओं के आदर्श शायद पश्चिमी पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले विज्ञापनों के "मॉडल" होते हैं जो विश्वविद्यालयों के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। इससे शायद यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि पश्चिम की विज्ञापन जगत की अमोघ शक्ति के बावजूद वहाँ विश्वविद्यालय और विज्ञापन व्यवसाय में अन्तर देखना अभी तक सम्भव है, लेकिन भारत में नहीं है। पश्चिम से कुछ दिन पहले आए दो युवा अध्यापकों ने मुझे बताया कि वहाँ का युवा वर्ग सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के बारे में स्वतंत्र ढंग से गहरा सोच-विचार करता है और अनेक अवसरों पर उसमें हिस्सा लेता है। इधर भारत के वे युवा जो विश्वविद्यालय के कहवाघरों तथा बगीचों में अनन्त विचार-विमर्श में लीन रहते हैं, सामाजिक तथा राजनीतिक महत्व के मसलों को महज़ दिलचस्प चर्चा योग्य विषय मानते हैं।

फिल्मों के अतिरिक्त उनके ज़्यादातर विषय अमूर्त होते हैं, और इस कारण कल्पना को भरपूर व्यायाम का मौका देते हैं। पश्चिमी युवक-युवतियाँ शाम को खेलते हैं या व्यायाम युक्त मनोरंजन करते हैं। भारतीय समृद्ध युवा दिन भर की बातचीत, कॉफी तथा पढ़ाई से थककर शाम घर में बिताता है या किसी मनोरंजनगृह में। भारतीय युवा का सब-कुछ उसके माँ-बाप होते हैं जबकि पश्चिमी युवा प्रायः काम करते हुए पढ़ता है।

भारत में युवा जीवन के बारे में सिर्फ समृद्ध युवक-युवतियों को देखकर राय बना लेना उतनी ही बड़ी भूल है जितनी हिप्पियों को देखकर पश्चिम

का अन्दाज़ लगाना या समृद्ध भारतीय युवा को पश्चिम का नकलची कहकर सारे मामले को निबटा देना। मैं समझता हूँ कि भारत का अमीर युवा अपने ढंग की एक चीज़ है जिसका उत्पादन एक उपजीवी सभ्यता ने किया है। इस सभ्यता की जड़ें जाति प्रथा, सामन्ती संस्कारों तथा अँग्रेज़ों से विरासत में मिली नौकरशाही और अँग्रेज़ी में है। आज के प्रतियोगी समाज में भारत के ताकतवर उपजीवियों की सन्तान को साधारण नागरिक के मुकाबले कितने लाभ पहले से मिले हैं, यह सहज सोचा जा सकता है।

बच्चे को तोड़ने का कमाल

बच्चे को तोड़ने का कमाल

पिछले दिनों चार साल का एक बच्चा इसलिए चर्चा में रहा क्योंकि वह कम्प्यूटर पर कुछ काम करना सीख गया था। सत्रह वर्ष के एक और लड़के को इस कारण समाचारों में स्थान दिया गया क्योंकि वह विश्व का सबसे कम उम्र का डॉक्टर बनकर घर लौटा था। उसकी तारीफ में बताया गया कि अमरीका में डॉक्टरी की पढ़ाई इतनी कम उम्र में करने के लिए उसे कई संस्थाओं से लड़ना पड़ा और कानूनी कार्यवाही का सहारा लेना पड़ा। फ़िलहाल अब वह पूरा डॉक्टर बन गया है। लेकिन उससे इलाज कराने वाले क्या उसी तरह डरेंगे जिस तरह मैं दिल्ली की सड़कों पर तेरह-चौदह साल के बच्चों को स्कूटर या कार चलाते देखकर डरता हूँ?

ये बच्चे चोरी से नहीं, सगर्व कार चलाते हैं। उनके माता-पिता यह बताते हुए कोई पसोपेश महसूस नहीं करते कि उनके बच्चे ने लाइसेंस सम्बन्धी कानून तोड़ा है। उलटे वे इस बात पर अपनी हार्दिक खुशी जताते हैं कि उनका बच्चा इतनी जल्दी गाड़ी चलाना सीख गया है। वे इस बात को लेकर परेशानी महसूस करते हैं कि लाइसेंस लेने की उम्र तक पहुँचने में उनके बच्चे को अभी कई वर्ष लगेंगे। इस लम्बी प्रतीक्षा को कुछ कम करने के लिए वे बच्चे की उम्र बढ़ाने का जतन करने को गलत नहीं मानते, बल्कि सन्तोष के साथ बताते हैं कि झूठा एफीडेविट देकर उन्होंने किस तरह लाइसेंस प्राप्त कर लिया है।

इन माता-पिताओं को यह गवारा नहीं है कि बच्चे को बच्चा माना जाए, उसे उसका बचपन जीने दिया जाए। वे बच्चे को जल्दी से जल्दी बड़ा बना देने पर आमादा हैं। अपनी इस हवस को पूरा करने के लिए उन्हें सरकारी और संस्थाई कानूनों की खींच-खांच करने में कोई संकोच नहीं है और न ही बच्चे के व्यक्तित्व की खींच-खांच करने में कोई संकोच है। बच्चे के

मन की स्वाभाविक वृत्तियों, उसके डर और संकोच को तोड़कर बड़ों की अपेक्षाएँ उस पर लाद देना इस हवस का लक्ष्य है। एक समूचा सांस्कृतिक परिवेश इस लक्ष्य को पाने के लिए रचा गया है।

पारिवारिक स्तर पर इस परिवेश की रचना उन तमाम छोटी-छोटी घटनाओं में होती है जिनमें छोटे बच्चे को घेरकर बड़े उससे कविता सुनाने या नाचने को कहते हैं। बच्चे की झिझक को तोड़ने के लिए तरह-तरह के प्रलोभनों या किसी अंकल-आंटी की उम्मीदों के दबाव का इस्तेमाल किया जाता है। स्कूल भी इस दिशा में अपना योगदान जी-जान से देता है। बच्चे के स्वभाव को कुचलने और उसे बड़ों की मनमानी का गुलाम बनाने में भारतीय शिक्षा व्यवस्था काफी अनुभवी हो चुकी है।

परिवार और स्कूल जिस काम को एक सीमित दायरे में रहकर पूरा करते हैं, प्रेस, रेडियो और टीवी उसे राष्ट्र की फैली हुई परिधि तक पहुँचाते हैं। गिनिस बुक की संस्कृति को मीडिया ने ही राष्ट्रीय रूप दिया है। अमरीका की पतनोन्मुख जीवन दृष्टि से उपजी यह संस्कृति अकेले मनुष्य के मन में चक्कर खाते अनगिनत बर्बर खयालों को गौरवान्वित करती है। बचपन में ही कोई कमाल कर दिखाने की पहले से चली आ रही भारतीय ललक को भड़काने के पचास अन्य प्रबन्ध मीडिया – विशेषकर आकाशवाणी और दूरदर्शन – ने कर रखे हैं। ये माध्यम बच्चों को प्रस्तुत ही इस तरह करते हैं कि वे किसी छोटी-बड़ी महारत की मिसाल बनकर सामने आएँ। बच्चों से इंटरव्यू लेने वाले बड़े एक ओढ़ी हुई मुद्रा और भाषा में भोथरे सवाल पूछकर यह असम्भव बना देते हैं कि उत्तर देने को विवश बच्चा अपना बचपन बचा सके।

इस नृशंस बर्ताव से गुज़रकर बच्चे विकास की नैसर्गिक प्रक्रियाओं से कट जाते हैं। यदि वे प्रक्रियाएँ अपनी गति से चलने दी जातीं तो झिझक, संकोच और झेंप की जगह एक दिन आत्मसम्मान और आत्मविश्वास पैदा होता। अपनी क्षमताओं पर भरोसा मूल रूप से आत्मसम्मान ही है। यदि किसी दूसरे की अपेक्षाएँ लादकर बच्चे का स्वाभाविक आत्मसम्मान तोड़ दिया जाए तो आत्मविश्वास फिर कहाँ जन्म लेगा? चार साल की उम्र में कमाल दिखाने वाले बच्चे की खबर चौदह या चौबीस साल की उम्र में कौन लेता है? वैसे भी मीडिया का सरोकार किसी व्यक्ति से नहीं, चमत्कार या सनसनीखेज़ समाचार से होता है। कल का चमत्कारी बालक आज कौन-सा यथार्थ ढो रहा है, यह खबर समाज को बताना किसी की ज़िम्मेदारी नहीं।

इस खबर को पढ़ने के लिए जून के ये बचे-खुचे दिन विशेष रूप से उपयोगी हैं। कॉलेज की शिक्षा पाने को उत्सुक अच्छे-अच्छे नम्बर लेकर पास होने वाले लड़के-लड़कियाँ इन दिनों प्रवेश-पत्र लिए घूम रहे हैं। सत्रह साल की उम्र के इन भाग्यवान युवजनों को दाखिले की रस्में पूरी करने के लिए अपने माता-पिताओं की ज़रूरत रहती है। कई पिता तो बाकायदा छुट्टी लेकर अपनी सन्तान के साथ कदम-दर-कदम भटकते हैं। जिन संस्थाओं में दाखिले के लिए प्रवेश परीक्षा में बैठना ज़रूरी है, उनके बाहर माता-पिता घण्टों खड़े रहते हैं। लेकिन सबसे बड़ी विडम्बना सामने आती है कोर्स या कॉलेज के चुनाव को लेकर। लड़के को ज़िन्दगी में क्या करना है, यह उनके पिता बताते हैं। लड़का भीगी बिल्ली की तरह चुपचाप बगल में खड़ा सुनता रहता है कि उसके पिता उसे किस लाइन में "डालना" चाहते हैं, क्या "बनाना" चाहते हैं। यदि किसी ने कभी ज़ोर देकर कुछ पूछ ही लिया कि "बेटा, तुम क्या पढ़ना चाहते हो?" तो लड़के का उत्तर वही होता है जो उसे चार बरस की उम्र से तिल-तिल तोड़कर सिखाया गया होता है – "जो पिता जी कहेंगे, वही पढ़ूँगा।"

निरक्षरों पर महाभियोग

निरक्षरों पर महाभियोग

इस वर्ष के अन्तर्राष्ट्रीय साक्षरता दिवस पर नई दिल्ली में आयोजित समारोह उस समय अप्रत्याशित हो उठा जब हबीब तनवीर के "सड़क" शीर्षक नाटक में जज ने गाँव के लोगों से पूछा कि भद्दे संगीत से उनका क्या आशय है। इन लोगों पर देश के बड़े उद्योगपतियों और उनके डिग्रीधारी मैनेजरों ने यह आरोप लगाया था कि उन्होंने गाँव को बाहर की दुनिया से जोड़ने वाली सड़क तोड़ डाली है और इस तरह देश के विकास को खतरे में डाल दिया है। आखिर इसी सड़क से छत्तीसगढ़ अंचल की धरती में छिपे खनिज और जंगल में विचरते जानवरों की खालों जैसी मूल्यवान चीज़ें बाहर जाती थीं। गाँव के लोगों की दलील थी कि सड़क उनके विकास को चोट पहुँचा रही थी क्योंकि उसके ज़रिए होने वाला व्यापार अन्यायपूर्ण था। मूल्यवान चीज़ें सड़क के ज़रिए बाहर जाती थीं, और बदले में बोतलबन्द पेय, मिलावटी खाद्य पदार्थ और भद्दे संगीत के कैसेट आते थे। जज ने इस संगीत का उदाहरण जानना चाहा तो साक्षरता दिवस मनाने आई अधिकारियों और गम्भीर नागरिकों व बच्चों की भीड़ के कानों में पूरे ज़ोर के साथ जो शब्द गूँजे, वे ऐसे अवसर के लिए अप्रत्याशित थे: "जब भी कोई लड़की देखूँ, मेरा दिल दीवाना बोले, ओले, ओले।" खेद की बात थी कि समारोह के मुख्य अतिथि वाणिज्य मंत्री प्रणव मुखर्जी जा चुके थे, वरना शायद वे नई आर्थिक नीति को एक नए पहलू से देखने की प्रेरणा पाते।

"सड़क" का कथ्य बहुत साफ है। नई आर्थिक नीति के तहत भारत की अर्थव्यवस्था को विश्व पूँजी तंत्र पर काबिज़ देशों की आर्थिक नीतियों से सीधे जोड़ने के प्रयास ने संचार और प्रसार के हरेक माध्यम का अर्थ बदल दिया है। इन माध्यमों में सड़क भी शामिल है और साक्षरता भी। सड़क भी आखिर विकास की कुँजी मानी जाती थी, पर हबीब तनवीर ने उसे

विवादास्पद बनाकर दिखाया है। साक्षरता भी उतनी ही, बल्कि ज़्यादा विवादास्पद है और उसके प्रसार की इस घड़ी में जितनी बौद्धिक और सांस्कृतिक मुस्तैदी की ज़रूरत है, वह फिलहाल दिखाई नहीं दे रही। साक्षरता के अभियान में लगे हुए लोग आज भी पचास और साठ के दशकों के मूड में जी रहे हैं। वे चाहते हैं कि ज़िले दर ज़िले फैलती हुई साक्षरता का स्वागत ताली बजा कर किया जाए। उसके चरित्र पर सवाल उठाना या उसकी अर्थवत्ता के बारे में "सड़क" सरीखा विवाद खड़ा करना उन्हें साक्षरता का विरोध नज़र आता है। वे कहते हैं कि विवादों का समय अभी नहीं आया है। पहले देश को साक्षर हो जाने दो, फिर उसके चरित्र का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त समय मिलेगा। अभी जिसे विश्लेषण का शौक है, वह साक्षरता के प्रसार के आँकड़ों का विश्लेषण करके अपना शौक पूरा कर ले।

पूछा जा सकता है कि जब साक्षरता अभियान का संचालन कर रहा राष्ट्रीय साक्षरता मिशन स्वयं "सड़क" जैसे नाटक का मंचन कर साक्षरता को विकास के अन्तर्विरोधों से जोड़ने की कोशिश कर रहा है, तो इससे साक्षरता के प्रचार-प्रसार में लगे तमाम लोग प्रभावित या प्रेरित क्यों नहीं होते? एक तो यह कोशिश साक्षरता के विस्थापित देवत्व के खण्डन के लिए पर्याप्त नहीं है। राष्ट्रीय साक्षरता मिशन द्वारा स्वयं प्रस्तावित पाठ्यक्रम सम्बन्धी निर्देशिकाएँ साक्षरता को विकास के अन्तर्विरोधों से जोड़ने की जगह उसे विकास की रूढ़ छवि के ही प्रसार का माध्यम बनाती हैं। दूसरी प्रमुख बात शायद यह है कि नई आर्थिक नीति और उसके तहत ताबड़तोड़ हो रहे परिवर्तनों का सिलसिला सामाजिक कार्यकर्ताओं को इतना आतंकित और ज़ेहनी स्तर पर इतना हताश कर चुका है कि वे अब कुछ वर्षों के लिए अपनी किसी पुरानी देवी के चरणों में छिप जाना चाहते हैं – इस उम्मीद में कि इस बीच तूफान गुज़र जाएगा और देवी की आराधना भारत के जनमानस में नई ताकत का संचार कर चुकी होगी। इस किस्म की जादुई देवी की हैसियत निश्चित ही साक्षरता को प्राप्त है। बीसवीं सदी के शुरू में ही उसने यह हैसियत विश्व स्तर पर पा ली थी। दुनिया ने यह मानना शुरू कर दिया था कि खुशहाल, आधुनिक, वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न और प्रगतिशील केवल एक साक्षर समाज हो सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से विकास की अन्तर्राष्ट्रीय अवधारणा कुछ इस तरह से परिभाषित हुई कि साक्षरता विकास की पहली सीढ़ी मान ली गई और निरक्षरता खुशहाली और प्रगति की राह की सबसे बड़ी बाधा।

धीरे-धीरे यह मान्यता फैल गई कि निरक्षर जन अन्धविश्वासी और अवैज्ञानिक होता है। वह हर काम गलत तरह से करता है, यहाँ तक कि खेती करना भी उसे ठीक से नहीं आता, यद्यपि वह हज़ारों साल से खेती कर रहा है। वह बच्चे भी बहुत ज़्यादा पैदा करता है, इसलिए जनसंख्या वृद्धि की जड़ है। वह आलसी है, निरुद्यमी है (यद्यपि उन तमाम हस्तकौशलों का विकास उसी ने किया है जिन्हें पुपुल जयकर ने दिल्ली के नामी "प्रगति मैदान" के कोने पर स्थित राष्ट्रीय हस्तशिल्प संग्रहालय में राष्ट्र का गौरव बनाकर संजोया है)। उसे पैसे की बचत करना भी नहीं आता, न वह पोषक भोजन और स्वास्थ्य विज्ञान के रहस्य समझता है। साक्षरता की देवी का महात्म्य यहाँ तक बढ़ा कि निरक्षर जन को गन्दगी और पर्यावरण के प्रदूषण और विनाश का कारण माना जाने लगा।

अब यह कहने की ज़रूरत नहीं रह गई है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद से फैली इस सम्पूर्ण विचारधारा में एक बड़े राजनीतिक और आर्थिक तंत्र को मज़बूत बनाने की रणनीति छिपी थी। इस रणनीति को बनाया दुनिया के उन अमीर राष्ट्रों ने जिन्होंने विश्व युद्ध की अगुआई की थी और जिन्हें अब शान्ति के युग की तैयारी इस तरह करनी थी कि दुनिया भर के प्राकृतिक और मानव संसाधन उनके कूल्हों तले आ जाएँ। इस रणनीति की सफलता के लिए ज़रूरी था कि उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों से पैदा हुई नव-स्वतंत्र समाजों की राष्ट्रीय अस्मिताएँ सुला दी जाएँ, उनकी सांस्कृतिक चेतना को नई तरह की अफीम खिलाकर वश में कर लिया जाए। इस सारे काम को इन पूर्व उपनिवेशों के शिक्षित अभिजनों के सहयोग के बगैर नहीं किया जा सकता था। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय गठबन्धनों की रचना हुई, जहाँ विश्व शान्ति और विकास के संगीत में अमीर और गरीब दोनों किस्म के राष्ट्र-राज्यों के एक-सरीखे दिखने वाले प्रतिनिधि अपने सुर मिला सकें। इस सामूहिक गायन से बोलों में साक्षरता को खासी प्रमुखता दी गई।

शायद यह चुनाव इसी आधार पर किया गया कि साक्षरता और शिक्षा का पुराना सम्बन्ध है। इसलिए किसी का ध्यान इस बात की ओर नहीं जाएगा कि साक्षरता के ज़रिए हो क्या रहा है। नव-साम्राज्यवाद इस बहाने किसी के शक का शिकार नहीं बनेगा। रास्ते और कई भी थे, कुछ सीधे, कुछ टेढ़े-मेढ़े। कुछ सामरिक अस्त्रों की बिक्री बढ़ाकर शान्ति का "मैनेजमेंट" कराने में अमीरों को नेतृत्व दिलाते थे, कुछ सांस्कृतिक भाईचारे के नाम पर हिंसा और सेक्स का प्रसारण करने के लिए अन्तरिक्ष में डोलते उपग्रहों

से होकर गुज़रते थे। साक्षरता इसी दूसरी किस्म के रास्तों में से एक थी – सांस्कृतिक प्रभुसत्ता की धीरे-धीरे होने वाली स्थापना की भरोसेमन्द, निरापद राह।

आज हम इसी राह पर काफी आगे बढ़ चुके हैं। हमारे इर्द-गिर्द एक मिली-जुली भीड़ है। इस भीड़ में वे हज़ारों आदर्शवादी कार्यकर्ता हैं जो सरकारी संगठनों द्वारा छापी गई प्रवेशिकाएँ कन्धे पर लादकर गाँव की तरफ निकल जाना चाहते हैं। उन्हें यह देखने की न फुर्सत है, न इच्छा, न आदत की प्रवेशिका के सन्देशों को ध्यान से परखें और सोचें कि इन सन्देशों में दुनिया को किसकी नज़र से देखा गया है। भीड़ में एक खासी बड़ी संख्या समर्पित सरकारी अधिकारियों की है। शहरी मध्यम वर्ग में पले-बढ़े इन शरीफ शहरी लोगों को साक्षरता के पाठ्यक्रम में ऐसा कुछ भी नहीं दिखता जो विवादास्पद हो। वे शुरू से मानते आ रहे थे कि जनसंख्या वृद्धि देश की मुख्य समस्या है और इसका कारण गरीब निरक्षर जन हैं – खासतौर से औरतें जो बच्चे पर बच्चा जनती चली जाती हैं। उन्हें बचपन से बताया गया कि गरीब लोग गन्दे, आलसी, शराबी और अन्धविश्वासी होते हैं। यही कुछ साक्षरता की प्रवेशिकाओं में लिखा है। वे देखते आ रहे थे कि साम्प्रदायिक दंगों में गरीब ही मारे जा रहे हैं। इसलिए नवसाक्षरों के लिए छापे गए साहित्य में यह लिखा है कि लोग साम्प्रदायिक वैमनस्य से बचें और मिलजुल कर रहें, जिससे भविष्य में दंगे न हों। भीड़ में तीसरा समूह उन तमाम बुद्धिजीवियों का है जो देश की बिगड़ती हालत को लेकर चिन्तित हैं और किसी बड़े सामाजिक अभियान में शामिल हो जाना चाहते हैं। वे नवसाक्षरों के लिए साहित्य लिखना चाहते हैं, साक्षरता को बढ़ावा देने के लिए भाषण देना चाहते हैं। पर इतना कहने का नैतिक साहस उनमें नहीं है, न वे शायद इस बात से पूरी तरह आश्वस्त हैं, कि साक्षरता आज की तारीख में उत्पीड़ित जन का घोषणापत्र नहीं है।

ऐसी स्थिति में कौन इस बात के लिए लड़ेगा कि साक्षरता की समझ और दिशा आमूल रूप से बदली जानी चाहिए, वरना साक्षरता भी हबीब तनवीर की "सड़क" की तरह शोषण का ज़रिया बन जाएगी? यह प्रक्रिया शुरू हो भी चुकी है। तमिलनाडु के पुदुकोट्टाई ज़िले में साक्षर बनने वालों का मूल्यांकन बाकायदा इस आधार पर किया गया कि वे साबुनों के विज्ञापनों को पढ़कर विभिन्न व्यापारिक नाम अलग से पहचान सकते हैं या नहीं। यह स्थिति निराली नहीं, एकदम सामान्य है। लाखों नवसाक्षरों के पास पढ़ने को है क्या – सिवा दीवारों पर पुते विज्ञापनों,

नवसाक्षरों के लिए छापी गई पुस्तिकाओं और स्थानीय अखबारों के? जब देश की शहरी शिक्षित जनता के पास पढ़ने को किताबें नहीं हैं, महानगरों के पुस्तकालय भी जर्जर अवस्था में हैं, तो फिर गाँवों और कस्बों में अब साक्षर बन रहे नागरिक की बौद्धिक ज़रूरतें कहाँ से पूरी होंगी? साक्षरता के लिए विख्यात केरल में सामुदायिक पुस्तकालयों का एक समूचा, स्वायत्त तंत्र था, जिसकी पचास के दशक में चार हज़ार से ऊपर शाखाएँ थीं। आज यह तंत्र पतले सरकारी अनुदानों पर टिका है। गाँव की लाइब्रेरी के नाम पर उधड़ी जिल्द का एक अम्बार चालीस वॉट के बल्ब के नीचे पड़ा है। उधर सेक्स और हिंसा के धारावाहिकों पर चलने वाली पत्रिकाएँ एक साक्षर समाज की कल्पना को साकार करने में लगी हैं। इस परिदृश्य में थोड़ा-बहुत व्यतिक्रम उन जगहों पर देखने को मिलता है जहाँ केरल शास्त्र साहित्य परिषद के आन्दोलन की गन्ध बची है। प्रश्न उठता है कि देश के अन्य तमाम अंचलों में, जहाँ ऐसा कोई वैचारिक आन्दोलन या आलोड़न नहीं हो रहा है, अकेली साक्षरता किसके दम पर एक नई सामाजिक चेतना का रूप ले पाएगी?

एक लम्बी मौखिक या वाचिक परम्परा के गौरव को नकार कर फैलाई जा रही साक्षरता आज एक वैचारिक आन्दोलन नहीं, एक सांस्कृतिक आक्रमण का रूप ले रही है। निरक्षर जन को यह कहकर साक्षर बनाया जाता है कि वह एक पिछड़ा हुआ, अन्धविश्वासी, नाकारा इन्सान है, जिसके कारण देश दुनिया के सामने अपमानित हो रहा है। इस तरह मेहनतकश जनता की आत्मछवि पर एक झूठे विश्लेषण की स्याही पोतकर फैलाई गई साक्षरता से किसी सांस्कृतिक पुनर्जागरण की उम्मीद करना अपने को धोखा देना है। वैचारिक रूप से खोखला आज का साक्षरता अभियान विज्ञापन पढ़ने से ज़्यादा और कोई क्षमता नहीं दे सकता।

शिक्षा हो या साक्षरता, दोनों की सेवाएँ आज उस नवधनिक संस्कृति और जीवन शैली के प्रचार में लगी हैं जो पूँजीवाद के विश्वव्यापी संकट को दूर करेगी। इस उद्देश्य के लिए निरक्षर जन का नैतिक बल तोड़ने की सख्त ज़रूरत है; शिक्षित जन का नैतिक बल पहले ही टूट चुका है। इसलिए आज कोई नहीं कहता कि साक्षरता की प्रवेशिका में शामिल सन्देश उपनिवेशवादी हैं, इन्हें हटाओ और इनकी जगह पढ़ाओ कि विश्व की समस्याएँ शोषित निरक्षरों ने नहीं, शिक्षितों ने पैदा की हैं। नर्मदा बाँध का निर्माण, बाबरी मस्जिद का ध्वंस, खाड़ी युद्ध, आणविक शस्त्रों का

विस्तार और जंगलों का सफाया समृद्ध, शिक्षित जन की रचनाएँ हैं, निरक्षरों की नहीं। ऊर्जा का अपव्यय धरती को विनाश की ओर ले जा रहा है, आबादी नहीं। एक औसत अमरीकी एक भारतीय के मुकाबले सत्तर गुना ज़्यादा ऊर्जा संसाधनों को खर्च करके जीता है। दुनिया में गन्दगी गाँव के कीचड़ की नहीं, अणु शक्ति निकालने के बाद बचे यूरेनियम के कूड़े की है। आज तीसरी दुनिया के देशों में व्याप्त शैक्षिक विषमता के लिए ज़िम्मेदार आर्थिक और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का विश्लेषण किए बिना कोई सार्थक साक्षरता कार्यक्रम नहीं चलाया जा सकता। साक्षरता तभी दलित दुनिया का बयान बन सकती है जब वह पहले अमीर अत्याचारियों द्वारा निरक्षरों के खिलाफ गढ़ा गया झूठा महाभियोग बनने से बचे।

कृष्ण कुमार

प्रख्यात शिक्षाविद् कृष्ण कुमार आजकल एन.सी.ई.आर.टी, दिल्ली, के निदेशक हैं। शिक्षा से परे वृहत्तर समाज और उससे जुड़े सवालों के बारे में अपनी सुविचारित दृष्टि के लिए भी वे जाने जाते हैं। साहित्य में उनकी गहरी रुचि है और वे हिन्दी में कहानियाँ और बाल साहित्य लिखते हैं। उनकी कई पुस्तकें छपी हैं, जिनमें से कुछ ये हैं: *राज, समाज और शिक्षा*, *विचार का डर*, *स्कूल की हिन्दी*, *आज नहीं पढ़ूँगा*, *लर्निंग फ्रॉम कॉन्फलिक्ट*, *व्हाट इज़ वर्थ टीचिंग*, *द सोशल करैक्टर ऑफ लर्निंग* तथा *प्रेजुडिस एण्ड प्राइड*।

एकलव्य

एकलव्य एक स्वैच्छिक संस्था है। यह पिछले कई वर्षों से शिक्षा एवं जनविज्ञान के क्षेत्र में काम कर रही है। एकलव्य की गतिविधियाँ स्कूल में व स्कूल के बाहर दोनों क्षेत्रों में हैं।

एकलव्य का मुख्य उद्देश्य ऐसी शिक्षा का विकास करना है जो बच्चे से व उसके पर्यावरण से जुड़ी हो; जो खेल, गतिविधि व सृजनात्मक पहलुओं पर आधारित हो। अपने काम के दौरान हमने पाया है कि स्कूली प्रयास तभी सार्थक हो सकते हैं जब बच्चों को स्कूली समय के बाद, स्कूल से बाहर और घर में भी रचनात्मक गतिविधियों के साधन उपलब्ध हों। इन साधनों का किताबें तथा पत्रिकाएँ एक अहम हिस्सा हैं।

पिछले कुछ वर्षों में हमने अपने काम का विस्तार प्रकाशन के क्षेत्र में भी किया है। बच्चों की पत्रिका *चकमक* के अलावा *स्रोत* (विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स) तथा *शैक्षणिक संदर्भ* (शैक्षिक पत्रिका) हमारे नियमित प्रकाशन हैं। शिक्षा, जनविज्ञान, बच्चों के लिए सृजनात्मक गतिविधियों के अलावा विकास के व्यापक मुद्दों से जुड़ी किताबें, पुस्तिकाएँ, सामग्रियाँ आदि भी एकलव्य ने विकसित एवं प्रकाशित की हैं।

वर्तमान में एकलव्य मध्यप्रदेश में भोपाल, होशंगाबाद, पिपरिया, हरदा, देवास, इन्दौर, उज्जैन, शाहपुर (बैतूल) व परासिया (छिन्दवाड़ा) में स्थित कार्यालयों के माध्यम से कार्यरत है।